उसमें प्राय: सभी रस-सामग्री यथास्थान मिल जाती है।'' (डॉ० गया प्रसाद उपाध्याय शास्त्री, रस-सिद्धांत, इतिहास और मूल्यांकन, सं० डॉ० राम गोपाल शर्मा दिनेश एवं प्रतापचंद्र जैसवाल, पृ० 8)

भरत मुनि ने रस के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा है : ''न हि रसादते कश्चिदर्थ: प्रवर्तते।''– अर्थात, रस के अभाव में कोई अर्थ प्रवर्तित नहीं हो सकता। उन्होंने रस की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया है :

- रस नाट्य का आविर्भाव तथा सार तत्त्व है।
- रस 'पाकरस' के समान भौतिक है। वास्तव में रस एक पदार्थ है।
- नाट्य रस के दो पक्ष हैं : आस्वाद्य और आस्वाद।
- रस के आस्वाद का अधिकारी सुमनस् प्रेक्षक या दर्शक होता है और आसवाद के रूप में रस-प्रेक्षक की मनोमय प्रक्रिया है।
- नाट्य रस से हर्षादि की सिद्धि होती है।

भरत मुनि का नाट्य रस लगभग सातवीं शताब्दी में काव्य रस के रूप में गृहीत हुआ और यह काव्य के मूल्यांकन के एक महत्वपूर्ण सिद्धांत के रूप में मान्य हुआ।

भरत के रस प्रकरण के दो आधारभूत विषय हैं– 1. नाटक में रस की उत्पत्ति तथा 2. नाट्य रस का प्रेक्षक (प्रमाता, दर्शक) द्वारा आस्वाद। इन दोनों विषयों से दो प्रश्न जुड़े हैं : 1. क्या रस पदार्थ है? (रस इति क: पदार्थ: ?) तथा रस का आस्वादन किस प्रकार होता है? (कयमास्वाद्यते रस:?) प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुए भरतमुनि ने कहा : ''जिस प्रकार नाना न्यंजनों, औषधियों और द्रव्यों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, अथवा जिस प्रकार गुण और द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से षट् रस उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार कवि द्रव्यगत स्थायी भाव विभिन्न प्रकार के भावों अर्थात विभावादि के रूप को प्राप्त होने पर ही रसत्व को प्राप्त होते हैं।'' (रससिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र, निर्मला जैन, पृ० 22; नाट्शास्त्र के आधार पर : ''यथा हि नाना व्यंजनौषधि द्रव्य संयोगद्रसनिष्पति: तथा नाना भावोपगमाद्रसनिष्पति:।'') दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए भरतमुनि कहते हैं : ''जिस प्रकार नाना व्यंजनों से लंस्कृत अन्न का योग करते हुए सुमनस् पुरुषे रस का आह्लाद लेते हैं और हर्षादि के प्रति अग्रसर होते हैं, उसी प्रकार नाना भाव और अभिनव इत्यादि से युक्त तथा वागंगसत्व में रूपांतरित स्थायी भावों का सुमनष्ट प्रेक्षक, आस्वाद लेते हैं और हर्षादि के प्रति अग्रसर होते हैं। ''(निर्मला जैन) रस सिद्धांत, पृ०-22; नाट्यशास्त्र के आधार पर : ''कथमास्वाद्यते रस:। यथा हि नाना व्यंजन संस्कृतमन्नंभुजाना रसानास्पादयन्ति सुमनस: पुरुष हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नाना भावाभिनयव्यंजितान् वागंगसत्कपेतान् स्थायिभवाना स्वादयन्ति सुमनस: प्रेक्षका: हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।'' भरत मुनि के नाट्यरस में आस्वाद्य वस्तु और आस्वाद धर्म दोनों का समावेश है।

8.3. विषय विस्तार

8.3.1 काव्य चर्चा और रस :

ऊपर चर्चा हो चुकी है कि भरतमुनि का रस सिद्धांत, जो नाटक तक ही सीमित था, सातवीं शताब्दी तक आते-आते काव्य मूल्यांकन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत हो गया। हालाँकि रस सिद्धांत को काव्यशास्त्रीय सिद्धांत के रूप में नवीं शताब्दी में ही मान्यता मिली। आनंदवर्धन ने अपने 'ध्वन्यालोक' में ध्वनि के अंतर्गत गुण, वृत्ति, वकोक्ति, अलंकार आदि को समाहित करते हुए एक प्रकार से रस की सुसंगत व्याख्या ही प्रस्तुत

कर दी। 'ध्वन्यालोक' में आनंदवर्धन ने यह स्पष्ट रूप से कहा कि संपूर्ण ध्वनि-निरूपण का प्रयोजन रस है। आनंदवर्धन का ध्वनि सिद्धांत रस सिद्धांत से अभिन्न रूप से संबद्ध है और एक प्रकार से वह रस सिद्धांत का पूरक है। डॉ० निर्मला जैन कहती हैं : "आनंदवर्धन की प्रखर प्रतिभा ने रस चिंतन के इतिहास में अंतिम रूप से स्थापित कर दिया कि रस व्यंग्य ही होता है, 'ध्वन्यालोक' के द्वारा रस निरूपित नाट्येतर काव्य में भी बोधगम्य हो गई।" (रस-सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र, पृ० 30)

आगे हम इस तथ्य पर विचार करेंगे कि नाटक के लिए उपयोगी रस का सिद्धांत काव्योपयोगी कैसे हो गया।

□ भरतमुनि ने नाट्य को नाट्यवेद कहा है। उन्होंने नाट्यवेदों के स्रोतों का उल्लेख करते हुए 'नाट्यशास्त्र' में लिखा है :

"जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसनाथर्वणादपि।"

अर्थात् नाट्य वेद के लिए पाठ ऋग्वेद से, गीत सामवेद से, अभिनय यजुर्वेद से और रस अथर्ववेद से लिया गया। ऋग्वेद में रस शब्द का प्रयोग वनस्पति के द्रव, जल और दूध के अर्थ में मिलता है। अथर्ववेद में 'रस' शब्द का अर्थ परिलिखित अर्थों से थोड़ा भिन्न हुआ। ऋग्वेद का पदार्थ प्रधान अर्थ समाप्त होकर अथर्ववेद में स्वाद प्रधान हो गया। संपूर्ण वैदिक वाङ्मय का अवलोकन किया जाए तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उसमें रस शब्द का प्रयोग शब्द और अर्थ के लिए भी होने लगा था। उपनिषद काल में अथर्ववेद के स्वाद प्रधान अर्थ के साथ विशेषणत्व का अर्थ भी समाहित हो गया। इस काल में 'रस' का प्रयोग स्वाद की अनुभूति और धानंद के लिए भी होने लगा। रस-सिद्धान्त का सर्वप्रथम उल्लेख भरतमुनि के नाट्य शास्त्र में ही मिलता है। ऐसे भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में इस तथ्य का उल्लेख किया है कि उनके पूर्व रस-सिद्धांत की एक दीर्घ परंपरा थी।

□ भरतमुनि के पश्चात् लगभग दो शताब्दियों तक रस की चर्चा से संबद्ध कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता। सातवीं शताब्दी में प्रणीत भामह के 'काव्यालंकार' में रस की चर्चा मिलती है। नाटक के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण अलंकारों की चर्चा भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में की है। उन्होंने वाचिक अभिनय के संदर्भ में ही कतिपय अलंकारों की चर्चा की है पर, भामह ने अलंकारों को नाटक के क्षेत्र से मुक्त कर, काव्य क्षेत्र के लिए प्रयोजनीय माना और अलंकारों की सम्यक् विवेचना की। यही वजह है कि कुछ विद्वान उन्हें अलंकारवादी और रस का विरोधी समझने लगे। इस भ्रम का खण्डन करते हुए डॉ० ग० मं० देशपांडे कहते हैं : "भामह ने रस के विरोध में संप्रदाय निर्माण का प्रयास नहीं किया। यह सही है कि भामह ने स्वतंत्र रूप में रसविवेचन नहीं किया, किन्तु इसका कारण रस का विरोध नहीं, बल्कि पिण्टपेषण से बचने का प्रयास था; क्योंकि भामह ने सर्गबंध काव्य का लक्षण कहते हुए रसों का स्पष्ट रूप से निर्देश किया है और उनकी यह निश्चित धारणा थी कि काव्य को रसयुक्त होना ही चाहिए।" (भारतीय साहित्यशास्त्र, प० 70-73)

'काव्यालंकार' में भामह कहते हैं :

अहृद्यमसुनिर्भेदं रसवच्चेऽप्यपेशलम्।
काव्यं कपित्थमात्रं यत्केषां चित्सदृशं यथा।" (काव्यालंकार, 5/62)

अर्थात्, अनेक कवि ऐसे हैं जिनका काव्य अहृद्य है उनका अर्थ सुगमता से नहीं लगाया जा सकता। ऐसा काव्य रसयुक्त होते हुए भी अपेशल (कठोर) होता है। ऐसा काव्य कठबेल के कच्चे फल

(कपिलवत्) के समान होता है। इसके विपरीत, सत्काव्य द्राक्षापाक के समान सरस एवं मधुर होता है। भामह काव्य में रस मानते हैं पर उनका कथन है कि काव्य में रसवत्ता का आधार शब्दों का चमत्कार है। शब्दों का यह चमत्कार ही वकोक्ति है। वकोक्ति से ही काव्य में अर्थों का विभाजन होता है। भामह की एक सीमा थी; वे अर्थों के विभाजन में सहायक वकोक्ति से रसनिष्पत्ति को स्वीकार करते हैं, किंतु वे अर्थों के विभाजन के लिए वकोक्ति के अलावा किसी अन्य शब्द शक्ति से परिचित नहीं थे। उन्होंने रस का समावेश अलंकार योजना के अंतर्गत कर लिया और उसे रसवद् अलंकार के रूप में प्रस्तुत कर संतोष कर लिया।

□ सातवीं शताब्दी में ही दण्डी के 'काव्यादर्श' में काव्य के संदर्भ में रस की चर्चा की। रस के संबंध में दण्डी की समझ कुछ अधिक विकसित प्रतीत होती है। भामह ने रसवद् अलंकार में शृंगार का एक अपुष्ट उदाहरण दिया था, लेकिन दण्डी ने रसवत् के प्रसंग में आठों रसों का अभिनिवेशपूर्वक चित्रण किया है। दण्डी ने माधुर्यादि गुणों के द्वारा रस की निष्पत्ति की बात कही। उन्होंने कहा कि मधुर गुण का संबंध रसों के साथ है और काव्य (शब्द) के साथ ही वस्तु (विषय) में भी रस की स्थिति होती है।

"मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।" (काव्यादर्श, 1/51) दण्डी की दृष्टि रस पर ही थी। वे कहते हैं कि सभी अलंकार अर्थ में रस-सिंचन करते हैं।

"कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिंचतु। " (काव्यादर्श, 1/62) वे भरतमुनि का अनुसरण करते हुए कहते हैं कि विभाव, अनुभाव संचारी से परिपुष्ट स्थायी भाव ही रस होता है। वे कहते हैं कि विभावादि की समृद्धि ही स्थायी भावों को रस की कोटि तक पहुँचा देती है।

"प्राक्प्रीतिर्दर्शिता सेयंरतिः शृंगारतां गता।
रूपबहुल्य योगने तदिदं रसवद्वचः।" (काव्यादर्श 2/281)

□ 850 ई के आसपास रुद्रट ने 'काव्यालंकार' सार-संग्रह की रचना की। उन्होंने इस ग्रंथ में रस का स्पष्ट और विस्तृत विवेचन किया। उन्होंने इस काव्यशास्त्रीय ग्रंथ में लिखा :

"ननु काव्येन क्रियते सरसानामवर्गम श्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः॥
तस्मात्तकर्षतव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
उद्वेजनमेतेषां शास्त्रवदेवान्यथा हि स्यात्॥ (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 12/1-2)

अर्थात्, सरस स्वभाव के लोगों को काव्य के द्वारा शीघ्र ही चतुर्वर्गों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। अतः काव्य को हमेशा रसयुक्त होना चाहिए, नहीं तो वे काव्य से भी विमुख हो जाएँगे। नाट्य से अलग काव्य के प्रसंग में यह रस की प्रतिष्ठा का पहला उद्घोष माना जाता है।

□ वामन (लगभग 2000 ई०) काव्य के अस्वाद्य से परिचित थे। उन्होंने अपने ग्रंथ काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में इसकी चर्चा की है। उन्होंने गुणों को आधार मानकर रीति के सहयोग से रस चर्चा को आगे बढ़ाया। उन्होंने रस को अलंकार के क्षेत्र में नहीं रखकर सीधे गुणों के आधार पर प्रतिष्ठित किया। वे कहते हैं : दीप्तरसत्वं शांतिः (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, 3/2/15) अर्थात्, कांति नामक गुण की दीप्ति का संबंध रस से है। रस प्रकरण में उन्होंने शृंगार का जो उदाहरण दिया है वह उनकी रसदृष्टि की सीमा को स्पष्ट करता है।

वामन ने अभिधेय के दो भेद माने हैं– व्यक्त और सूक्ष्म। सूक्ष्म अर्थ सहृदय को संवेद्य होता है। वामन सूक्ष्म के दो भेद करते हैं– भाव्य और वासनीय। भव्य में रस की स्थिति होती है। वामन प्रकरांतर से रस को काव्य की आत्मा (काव्य का नित्य धर्म) मानते हैं।

□ रुद्रभट्ट ने 'शृंगार तिलक' में कहा– ''काव्ये नव रसाः स्मृताः''। उन्होंने कहा– भरत यदि आचार्यों के नाट्य में ही रस स्थिति स्वीकारी है, मैं उसे अपनी बुद्धि के अनुसार काव्य के प्रति भी कहता हूँ। (शृंगार साहित्य, 1-5) काव्य के संबंध में रस-विमर्श का प्रारंभ स्पष्ट रूप से रुद्रभट्ट से ही माना जाता है।

□ ध्वनि की खोज ने रस-चिंतन में युगांतकारी परिवर्तन प्रस्तुत किया। आनंदवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में अपने विचार निम्नांकित बिन्दुओं में प्रस्तुत किए :

1. कवि अपने विशिष्ट प्रयोजन या हेतुओं के लिए लक्ष्यार्थ का आश्रय लेता है। कवि शब्दार्थों के माध्यम से अपना प्रयोजन (हेतु) सिद्ध करता है। शब्दार्थों द्वारा प्रयोजन की अभिव्यक्ति व्यंग्य होती है। कवि शब्दार्थों द्वारा अपना प्रयोजन या व्यंग्य रसिक हृदय में संक्रमित करता है।

2. काव्य में शब्दों का व्यंजना-व्यापार ही प्रधान होता है। काव्य में शब्द और अर्थ का संबंध व्यंग्य-यंजक होता है।

3. व्यंग्य-व्यंजक संबंध की 'ध्वनि' है।

4. काव्यगत शब्दार्थों का पर्यवसान रस के आस्वाद में होता है। ध्वनिकार कहते हैं कि शब्दार्थों का पर्यवसान रस के आस्वाद में होता है। अलंकार और वक्रोक्ति के कारण ही शब्दार्थों में रस ध्वनित क़रने की क्षमता आती है।

5. काव्यगत शब्दार्थों के संयोग से रसिक के मन की विशेष अवस्था उदित होती है और वह उस अवस्था का आस्वाद लेता है। इसके आस्वाद के लिए रसिक में योग्यता भी उलेखित है जिसे सहृदयत्व कहते हैं। सहृदयत्व प्रतिभा का ही एक गुण है।''

6. आनंदवर्धन के अनुसार काव्य का शब्दार्थ साहित्य केवल कविगत, शब्दार्थगत और रसिकगत व्यापार नहीं है, वह कवि-सहृदयगत अखण्डानुभवरूप व्यापार है।

ध्वन्यालोककार ने रसनिष्पत्ति को नाट्येतर काव्य में भी प्रतिष्ठित कर दिया।

ध्वनि की अवधारणा के प्रवर्तन के पूर्व भामह, दण्डी, वामन, सद्रट आदि आचार्यों ने इस समस्या के समाधान का प्रयास किया कि काव्यगत शब्द और अर्थ किस प्रकार रस की स्थिति को प्राप्त करते हैं। उन्होंने क्रमशः अलंकार, गुण, रीति आदि सिद्धांतों के माध्यम से यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया कि अलंकार, गुण एवं रीति के द्वारा शब्दार्थ में ऐसा सौंदर्य उत्पन्न हो जाता है अंत में जो जाकर रस में परिणत हो जाता है। ध्वनि सिद्धांत में ध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना गया। शब्दार्थों के माध्यम से कवि व्यंग्य ही रसिक हृदय में संक्रमित करता है। काव्यगत शब्दार्थों का पर्यवसान रस के आस्वादन में होता है।

□ रस सिद्धांत का चरमोत्कर्ष भट्टनायक (दसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध) एवं अभिनवगुप्त (ग्यारहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध, 'ध्वन्यालोकलोचन') की व्याख्याओं में मिलता है। साहित्यर्पणकार विश्वनाथ महापात्र (14वी शताब्दी) तथा पंडितराज जगन्नाथ (17वीं शताब्दी, 'रसगंगाधर') ने रस की पुनर्व्यवस्था की। हिन्दी साहित्य में रस की पुनर्व्यवस्था करनेवाले साहित्यकारों में आचार्य रामचंद्र शुद्न (20वीं शताब्दी पूर्वार्ध), जयशंकर प्रसाद, डॉ० नगेन्द्र आदि के नाम स्मरणीय हैं।

8.3.2 रस सिद्धांत का सैद्धांतिक विवेचन :

काव्य का चरम लक्षण क्या है, इस पर अनेक आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से विचार किया। फलस्वरूप काव्य के चरम लक्ष्य से संबद्ध अनेक संप्रदायवाद अस्तित्व में आए। प्रमुख संप्रदाय इस प्रकार हैं :

1. रस संप्रदाय– भरत, विश्वनाथ आदि।
2. अलंकार संप्रदाय– भामह आदि।
3. रीति संप्रदाय (गुण संप्रदाय इसी में गतार्थ)– वामन
4. वक्रोक्ति संप्रदाय– कुंतक
5. ध्वनि संप्रदाय– आनंदवर्धन
6. औचित्य संप्रदाय– क्षेमेंद्र

□ भरतमुनि, रुद्रट, भट्टलोल्लट (भट्टलोलुट), शंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने रस की मीमांसा की, पर रस को काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित करने वाले आचार्य हुए आचार्य विश्वनाथ महापात्र। उन्होंने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथ 'साहित्यदर्पण' में कहा– "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"। इनके उपरांत मध्यकाल और आधुनिक काल में रसवाद की प्रतिष्ठा और बढ़ी। डॉ० प्रतापनारायण टंडन कहते हैं :" यहाँ यह उल्लेख करना असंगत न होगा कि संस्कृत काव्यशास्त्र में उपर्युक्त सिद्धांतों के रूप में समीक्षा के जिन शास्त्रीय मानदण्डों का निर्धारण किया गया है, वे प्रधानतः काव्य की आत्मा की खोज के संदर्भ में ही हैं। इस दृष्टिकोण से समीक्षा के संस्कृत साहित्य शास्त्रीय मानदंड एक-दूसरे के खंडन की वृत्ति का आभास देते हुए भी वास्तव में एक-दूसरे के पूरक हैं।" (रस सिद्धांत का स्वरूपगत विकास)

8.3.2.1 'रस' की परिभाषा :

□ भरतमुनि नाट्यशास्त्र में कहते हैं : "न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते"– अर्थात् रस के बिना किसी भी अर्थ का प्रवर्तन नहीं होता। वे इसके आगे कहते हैं– "विभावानुभावव्यभिचारिसंगोद्रसनिष्पतिः" अर्थात्, विभाव, अनुभाव और व्याभिचारी भाव इन तीनों के संयोग से रस नित्पन्न होता है।

□ वे 'रस' के संबंध में इसके आगे कहते हैं :"यथा नानाव्यंजनौषधि द्रव्यसंयोगाद्रव निष्पत्तिः तथा भावोपगमाद्रसनिष्पतिः। यथा गुडाभिर्द्रव्यैव्यंजनै रोषधीमिश्च षड् रसा निर्वर्त्यन्ते, एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायितो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।"– अर्थात् कई प्रकार के व्यंजन और औषधि-द्रव्यों के संयोग से रस निष्पन्न हुआ करता है, वैसे ही नाना भावों के इकट्ठे होने पर रस नित्पन्न हो जाता है। जैसे गुड़ आदि ग्रन्थों, व्यंजनों और औषधियों से छः रस बने हैं, इसी प्रकार स्थायी भाव नाना भावों से युक्त होकर रस बनते हैं।"

□ आस्वाद को ही भरतमुनि रस मानते हैं।" रस इति कः पदार्थः? अत्रोच्यते। अस्वद्यत्यात्।" (नाट्यशास्त्र, अध्याय-6)

□ भावों से रसों की निष्पत्ति होती है, रसों से भावों की नहीं।"–दृश्यते हि भावेक्यो रसानामभिनिर्वतिरितिन तु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृतिरिति।" (नाट्यशास्त्र, अध्याय-6)

□ 'रस' शब्द का चार अर्थों में प्रयोग होता है, पर काव्यशास्त्र में विश्लेषित 'रस' शब्द हर्ष या आनंद का पर्याय है। 'रस' शब्द के चार अर्थ इस प्रकार हैं :

1. षड्रस के अर्थ में – मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त

2. आयुर्वेद का रस– एक या अनेक औषधियों से आयुर्वेदीय प्रक्रिया से बनाया गया रस (द्रव) वैदिक काल में, जिस 'सोरस' की चर्चा मिलती है, उसमें यहीं औषधीय रस (द्रव) है।

3. काव्य का रस, साहित्य का रस, काव्य-सौंदर्य, काव्यानंद, काव्यास्वाद, काव्याह्लाद– इस अर्थ में प्रयुक्त 'रस' शब्द।

4. मोक्ष या भक्ति रस– आत्मा का परमात्मा में मिलन से उत्पन्न आनंदानुभव, ब्रह्मानंद आदि के अर्थ में प्रयुक्त 'रस' काव्य।

□ काव्य का रस वास्तव में काव्य से प्राप्त होनेवाला आनंद या हर्ष है।

□ 'रस' शब्द के दो अर्थ (व्युत्पत्तिगत) हैं–1. आस्वाद के अर्थ में– रस्यते आस्वाद्यते इति रसः 2. द्रवत्व के अर्थ में– सरते इति रसः।' साहित्यशास्त्र में 'रस' शब्द का प्रयोग काव्यस्वाद या काव्यानंद के लिए हुआ है।

□ 'काव्यप्रकाश' के प्रणेता (12वीं शताब्दी) ने कहा है : ''आलंबन विभाव से उद्‌बुद्ध, उद्दीपन से उद्दीप्त-व्यभिचारी (संचारी) भावों से परिपुष्ट तथा अनुभावों द्वारा व्यक्त स्थायी भाव ही रसदशा को प्राप्त होता है। काव्य पढ़ने, सुनने का अभिनय देखने पर विभावादि के संयोग से उत्पन्न होनेवाली आनंदात्मक चित्र वृत्ति ही रस है।'' (''हिंदी साहित्य कोश, भाग-1 पृ० 518) .....

8.3.2.2. रस के अंग या रस अभिव्यक्त करने का साधन

भरतमुनि ने कहा है कि उच्च स्थायी भाव का संयोग विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी (संचारीभाव) भाव से होता है तब स्थायी भाव रस के रूप में निष्पन्न हो जाता है। भरत के उपर्युक्त कथन के अनुसार रस निष्पत्ति के प्रमुख साधन हैं : स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव। आगे दस रस के उपर्युक्त साधनों को संक्षिप्त परिचय प्राप्त करेंगे।

8.3.2.2.1 स्थायी भाव :

सहृदय के अंतःकरण में वासना रूप में नित्य वर्तमान रहनेवाला मनोविकार ही स्थायी भाव कहलाता है। स्थायी भाव को कोई विरूद्ध भाव नहीं दबा सकता। यहीं स्थायी भाव आस्वाद का मूल है। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में कहा है :

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं निरोधातुमक्षमाः।
आस्वादांकुरवंदोऽसौ भावः स्थायीति संमतः।। (साहित्य दर्पण, 3/174)

जिस प्रकार क्षिति (मिट्‌टी) का गुन पानी के संसर्ग से गंध के रूप में व्यक्त होता और अम्ल के संयोग से दूध दही के रूप में परिणत होता है, उसी प्रकार वासना रूप में सतत विराजमान स्थायी भाव विभाव आदि के संयोग से रस रूप में परिणत होता है। भरत मुनि ने आठ स्थायी भावों की चर्चा की है। वे आठ ही रस मानते हैं। उनके अनुसार आठ स्थायी भाव हैं : रति शृंगार, हास (हास्य), शोक (करुण), क्रोध (रौद्र), उत्साह (धीर), भय (भयानक), जगुप्सा (वीभत्स) विस्मय (अद्‌भुत)। शांत रस का स्थायी भाव निर्वेद है। भरतमुनि शांतरस को नहीं मानते। शांत रस के साथ वात्सल्य रस की भी चर्चा इन दिनों की जाती है। इसका स्थायी भाव वात्सल्य है। देव विषयक रति से भक्ति रस की निष्पति मानी जाती है।

8.3.2.2.2 विभाव :

विश्वनाथ कहते हैं : ''सत्याद्युद्बोधकाः लोके विभावा काव्यनाट्ययोः'' अर्थात्–लोक में जो पदार्थ सामाजिक के हृदय में वासना रूप मनोविकार के रूप में वर्तमान स्थायीभावों के उद्बोधक हैं, उन्हें विभाव कहते हैं। विभाव के संबंध में भरतमुनि नाट्यशास्त्र में कहते हैं : ''विभाव इति कस्मादुच्यते। विभावो विज्ञानार्थः। विभावः कारणं निमितं हेतुरिति पर्यायाः ! विभाव्यन्तेऽनेन वागंगसत्वाभिनया इति विभावः। यथा विभावितं विज्ञातमित्यर्थान्तरम्।'' अर्थात्– ''विभाव विशेष ज्ञान का अर्थ रखता है– विभाव, कारण, निमित्त, हेतु, ये पर्यायवाचक हैं। वाणी, अंग, सत्य अभिनय इनसे विशेषतः भावित होते हैं, इसलिए इनका नाम विभाव है। विभावितम् विज्ञातम्– ये पर्यायवाची हैं। श्लोक है : वाणी, अंग और अभिनय के आश्रम वाले बहुत-से अर्थ हमसे विभावित होते है, अतः इनका नाम विभाव है।'' धनंजय कहते हैं : ज्ञायमान होने के कारण भाव की पुष्टि करने वाला तत्त्व विभाव कहलाता है।

ज्ञायमानतया तत्र विभावो भवपोषकृत।
आलंदनोद्दीपनत्व प्रभेदेन स च द्विधा।'' (दशरूपकम् 4/211)

विभाव के दो भेद होते हैं– आलंबन विभाव और उद्दीपन विभाव।

8.3.2.2.3 आलंबन विभाव :

जिन पात्रों के माध्यम से सामाजिक के रत्यादि स्थायीभाव रसरूप में परिणत (अभिव्यक्त) होते हैं, उन्हें अवलंबन विभाव कहते हैं। शृंगार रस में नायक और नायिका आलंबन विभाव हैं।

आलंबन विभाव के भी दो भेद होते हैं–विषय और आश्रय। 'विषय' को ही 'आलंबन' कहा जाता है। जिस पात्र के प्रति सामाजिक के मन में भाव जागरित होते हैं, वह आश्रय कहलाता है। दुष्यंत को देखकर शकुंतला के मन में रति भाव जागरित होता है। यहाँ शकुंतला आश्रय है और दुष्यंत आलंबन।

8.3.2.2.4 उद्दीपन विभाव :

रस को उद्दीप्त करनेवाले विभाव उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। उद्दीपन विभाव रति आदि स्थायी भावों को उद्दीप्त करके उनकी आस्वदन-योग्यता बढ़ाते हैं और उन्हें रसावस्था तक ले जाने में सहायक होते हैं।

ये दो प्रकार के होते हैं : आलंबन गत चेष्टाएँ और बाह्य परिवेश। उदाहरण के रूप में शृंगार रस में दुष्यंत (आश्रय) के रति भाव को शकुंतला की (आलिंगन) की अँगिक चेष्टाएँ जैसे– मुस्कुराना, लोल आँखों से दुष्यंत की ओर देखना, कटाक्ष करना, भुजा विक्षेप आदि अधिक तीव्र कर देती हैं। उसी तरह शृंगार रस में प्रकृति का मनोरम दृश्य आश्रम के रतिभाव को उद्दीप्त कर देता है। यह उद्दीपन का बाह्य रूप है।

8.3.2.2.5 अनुभाव :

आचार्य विश्वनाथ साहित्यदर्पण में लिखते हैं :

''उद्बुद्धै कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भाव प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः।''

अर्थात्, रत्यादि स्थायी भावों के प्रकाश में लानेवाली आश्रय की बाह्य चेष्टाएँ अनुभाव कहलाती हैं। आश्रय को इन बाह्य चेष्टाओं को लोक में कार्य कहा जाता है और काव्य तथा नाटक में वर्णित-दर्शित होने पर 'अनुभाव' कहा जाता है।

अनुभाव के चार रूप हैं– आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। आंगिक अनुभावों का संबंध अंगों की चेष्टाओं से, वाचिक अनुभाव का संबंध बोलने से, आहार्य का संबंध वेशभूषा से और सात्त्विक का संबंध आंतरिक परिवर्तन से है। भू-निक्षेप अंगिक अनुभाव है, मधुर और प्रिय बोलना वाचिक अनुभाव है, विभिन्न प्रकार की वेशभूषा धारण करना आहार्य अनुभाव है तथा भावानुरूप आंतरिक उद्वेग सात्त्विक अनुभाव है।

सात्त्विक अनुभाव आठ माने गए हैं– स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपयु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। आंगिक, वाचिक और आहार्य अनुभाव यत्नज कहलाते हैं क्योंकि इनके निर्वहण (नाटक में) आश्रय का चेष्टा करनी पड़ती है। स्वत्त्विक अनुभाव में आश्रय को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। क्रोध में आकर किसी पर लाठी उठाना यलज अनुभाव है, पर किसी के प्रेम में अश्रुपात करना अयत्नज अनुभाव है। किसी के प्रेम में आँखों से आँसू अपने-आप बहने लगते हैं, उसके लिए आश्रय को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

स्वेद (पसीना) क्रोध, डर, दह लज्जा, दु:ख, थकावट, रोग, ताप, चोट तथा व्यायाम, क्लेश, धूप तथा संपीड़न से, स्तंभ हर्ष, भय, रोग, हैरानी, दु:ख, मस्ती, क्रोधादि से, वेपथु (कप) शील, भय, हर्ष, क्रोथ, स्पर्श तथा बुढ़ापे से, अश्रयु आनंद, क्रोध धुएँ, आँखों मं अंजन करने, जँमाई और डर, शोक एवं लगातार किसी वस्तु की ओर देखने, शीत और रोग से, वैवर्ण्य (मुँह का रंग फीका पड़ना) सर्दी, क्रोध, भय, श्रम, रोग, कलम (थकावट) और ताप से, रोमांच, स्पर्श, डर, शीत, हर्ष, क्रोध एवं रोग से। स्वरभंग भय, हर्ष, क्रोध, ज्वर रोग और मद से तथा प्रलय श्रम, मूर्च्छा, मद, नींद, चोट और मोह से उत्पन्न होता है।'' नाट्यशास्त्र 93 से 105.

8.3.2.2.6 संचारी भाव (व्यभिचारी भाव) :

'सरस्वती कंठाभरण' में भोज कहते हैं : ''स्थायी भाव वे हैं जो चिर काल तथा चित्त में ठहरते हैं और अनुभावादि अनुवंधियों से संबद्ध होने पर प्रबुद्ध होकर रस दशा को प्राप्त होते हैं। संचारी (व्यभिचारी) भाव वे हैं जो विशेष रूप से हृदयस्थ स्थायी भावों के सारे शरीर में चलायमान कर देते हैं और अनुभवादि के हेतु होते हैं। ये उत्पन्न होकर पुन: उत्पन्न नहीं होते। (5/21-22, सरस्वती कंठाभरण)

- चिरं चित्तेऽ वतिष्ठन्ते संबध्यन्तेऽनुषन्धिभि:।
  रसत्वं प्रतिपद्यन्ते प्रबुद्धा: स्थायिनोऽव ते ।। 5/19 ।।
- विशेषणामित: काये स्थायिनं चारदन्ति ये।
  अनुभावादिहेतूंस्तान्वदन्ति व्यभिचारिण: ।। 5/21 ।।
- जनित्वा ये न जायन्ते तेऽथवा व्यभिचारिण: ।
  स्मृत्यादयो हि प्रेमादौ भवन्ति न भवन्ति च ।। 5/22।।

अस्थिर चित्तवृत्तियों अथवा अस्थिर मनोविकारों को संचारी भाव कहते हैं। ये आलंबन और आश्रय के मन में उन्मग्न और निर्मग्न होते रहते हैं। वे स्थायी भावों के सहचरी कारण होते हैं। ये स्थायी भावों को रसावस्था तक ले चलते हैं लेकिन स्वयं जल में तरंग के समान उत्पन्न और समाप्त होते रहते हैं। ये चूँकि स्थायी भावों के साथ-साथ संचरण करते हैं, अत: ये संचारी भाव कहलाते हैं। मन के विकार होने के कारण संचारी भावों की संख्या नियत नहीं की जा सकती, पर सुविधा की दृष्टि से काव्यशास्त्रियों ने इसकी संख्या 33 निर्धारित की है।

संचारी भाव को ही व्याभिचारी भाव भी कहा जाता है। व्याभिचारी में 'वि' और 'अभि' दो उत्सर्ग हैं और 'चर' गत्यर्थवाचक धातु है। वाणी, अंग, सत्य से मिले हुओं को विविधता से आभिमुख्य से रसों में ले जाते हैं, अतः ये व्यभिचारी कहलाते हैं।

(वि-अभि इत्येतावुपसर्गौ। चर गतौ धातुः। धात्वर्थवागङ्ग सत्त्वोपेतान् विविधमभिमुखेन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः।– भरत नाट्यशास्त्र) व्यभिचारी भाव प्रत्येक स्थायी भाव के साथ विशेष रूप से अभिमुख होकर अर्थात् उनके अनुकूल बनकर चलते हैं। निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दीनता, चिंता, मोह, स्मृति, धृति, कीड़ा, चापल्य, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, विबोध, अवमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क। उपर्युक्त संचारी भावों के पारस्परिक मिलान से हजारों संचारियों का निर्माण हो सकता है। प्रत्येक स्थायी भाव के साथ एक निश्चित रस संबद्ध है पर किसी भी संचारी भाव का स्थायी भाव निश्चित नहीं है। एक ही संचारी भाव (व्याभिचारी भाव) कई स्थायी भावों के साथ अभिमुख होकर, अर्थात् उनके अनुकूल होकर चलता है।

□ विभाव, अनुभाव और संचारी भाव रस-प्रतीति में अखण्ड तथा संश्लिष्ट रूप में ही सहायक होते हैं। यहीं कारण है कि रस को 'अखण्ड' अथवा 'विभावादिसमूहालंबनात्मक माना जाता है।

□ रस-प्रतीति में विभावादि समान रूप से सहायक होते हैं। यहीं कारण है कि काव्य में विभावादि में से केवल किसी एक का वर्णन होने पर भी शेष दो भावों के समान रूप से आक्षेप द्वारा उनकी स्वतः प्रतीति होने पर रसचर्वणा की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अतः तीनों साधनों (विभाव, अनुभाव, संचारी) की विद्यमानता हो या केवल विभाव और अनुभाव की विद्यमानता हो, या केवल अनुभाव की विद्यमानता हो, रस की अभिव्यक्ति संभव है। केवल विभाव और अनुभाव की विद्यमानताएँ संचारी का बोध आक्षेप द्वारा हो जाता है तथा केवल अनुभाव की विद्यमानता में विभाव और व्यभिचारी (संचारी) का बोध आक्षेप के द्वारा हो जाता है। आक्षेप द्वारा इस बोध के अभाव में रसभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

8.3.3. रस भेद :

धनंजय और धनिक ने दशरूपक में रस का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वा द्यत्वं स्थायी भावों रसः स्मृतः।।4/1 ।।

अर्थात्– जब स्थायी भाव विभावों, अनुभावों, सात्त्विक भावों और व्यभिचारी भावों द्वारा स्वाद्य बना दिया जाता है तब रस कहलाता है।

धनंजय और धनिक ने आठ स्थायी भावों के आधार पर आठ रसों की चर्चा की है। उनके अनुसार आठ स्थायी भाव हैं– रति, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, हास, स्मय, भय और शोक। उन्होंने मन की चार प्रधान अवस्थाओं–विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप के अनुसार प्रधानतः रस की संख्या चार ही मानी जाती है–शृंगार रस, वीर रस, वीभत्स रस और रौद्र रस। उन्हीं चार से क्रमशः हास्य, अद्‌भुत, भयानक और करुण की उत्पत्ति हुई है।

"शृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्‌भुतोत्पत्तिवीर्भत्साच्च भयानकः ।।"

भरत मुनि ने भी शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स, ये चार प्रधान रस माने हैं और उन्हीं से क्रमशः हास्य, करुण, अद्‌भुत और भयानक रसों की उत्पत्ति की बात कही है। वे कहते हैं :

शृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्रात्तु करुणो रसः।
वीराच्चैवोद्‌भुतोत्पत्ति वीभत्साच्च भयानन्कः।। 6/39 ।।

शृंगारानुकृतियां तु स हास्य इति संज्ञितः।
रौद्रस्यैव च यत् कर्म सज्ञेयो करुणो रसः ।। 6/40 ।।

वीरस्यापि च यत् कर्म सोऽद्‌भुतः परिकीर्तितः।
वीभत्सदर्शनं सच्च भवेत् स तु भयानकः।। 6/41।।

भरत मुनि कहते हैं कि चार रस शृंगार, रौद्र वीर और वीभत्स से इनकी उत्पत्ति के कारण हैं। इनमें शृंगार से हास्य की उत्पत्ति होती है, क्योंकि शृंगार का अनुकरण हास्य माना गया है; रौद्र से करुण की उत्पत्ति होती है, क्योंकि रौद्र का कार्य करुण रस है; वीर से अद्‌भुत रस की उत्पत्ति होती है, क्योंकि वीर का कर्म अद्‌भुत हैं तथा वीभत्स से भयानक की उत्पत्ति होती है क्योंकि वीभत्स का दर्शन भयानक है।

8.3.3.1 शृंगार रस का स्थायी भाव रति है। इसके दो भेद होते हैं– संभोग (संयोग) शृंगार और वियोग शृंगार। संभोग (संयोग शृंगार) शृंगार ऋतु, मालाएँ, अनुलेप, गहने, प्रियजन, विषय, अच्छा घर, उपभोग, उपवन-गमन, अनुभव, श्रवण, दर्शन, क्रीड़ा, लीला आदि विभाओं से उत्पन्न होता है। भय, आलस्य और उग्रता को छोड़कर शेष व्यभिचारी भाव होते हैं। वियोग शृंगार (विप्रलंभ शृंगार) में निर्वेद (विरक्ति) ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चिंता, उत्कंठा, निद्रा, सुप्त, स्वप्न, ब्लोक व्याध, उन्माद (पागलपन), अपस्मार (मिर्गी), जड़ता, मरण आदि अनुभाव होते हैं। (नाट्यशास्त्र, 6/46)

8.3.3.2 हास्य रस का स्थायी भाव हास होता है। यह अस्त-व्यस्त वेश (अव्यस्थित केश), अव्यस्थित आभूषण, ठिठाई और चंचलता, झगड़ा, असत् प्रलाप, व्यंग्य, दोष-कथन आदि विभावों से उत्पन्न होता है। आलस्य, अवहित्था (अपना भाव छिपाना), ऊँघना, नींद, स्वप्न, जागना, असूया (ईर्ष्या व निंदा) आदि इसके व्यभिचारी भाव होते हैं। इसमें दृष्टि संकोच, ओठ काटना, नाक हिलाना आदि अनुभाप होते हैं।

हास्य दो प्रकार का होता है– आत्मस्थ और परस्थ। पात्र जब स्वयं हँसे तब आत्मस्थ हास्य होता है और जब दूसरों को हँसाए तब परस्थ हास्य होता है। यह रस स्त्री तथा नीच प्रवृत्तिवालों में बहुत दिखाई पड़ता है। भरत ने इसके छह भेद दिए हैं– स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित। भरत मुनि चाहते हैं कि उत्तम, मध्यम और अधम प्रवृति में दो-दो भेद होते हैं। (नाट्यशास्त्र, 261 अध्याय, 72) हसित उत्तमों के, विहसित और उपहसित तथा अपहसित और अति हसित अधमों के होते हैं।

- विपरीतालंकारैर्विकृताचाभिधानवेशैश्च।
  विकृतैरर्थ विशेषै हसहीति रसः स्मृतो हास्यः ।। 6/490
- स्मितमथ हसितं विहसितमुपदासित उचापहसितमति हसिम्।
  द्वौ द्वौ भेदो स्यातामुत्तममध्यमाधमो प्रकृतौ। 6/51 ।। – नाट्यशास्त्र, अध्याय-6

8.3.3.3 करुण रस : करुण रस का स्थायी भाव शोक होता है। क्लेश, वियोग, वैभवहनि, वध, बंधन, दुर्घटना आदि इसके विभाव हैं। निर्वेद, ग्लानि, उत्कंठा, आवेग चिंता, मोह श्रम, भय, विषाद, दीनता

व्याधि, जड़ता, उन्माद, आलस्य, मृत्यु आदि इसके संचारी भाव हैं। यह करुण रस शाप, क्लेश, विनिपात, इष्टजन वियोग, धन-नाश, वध तथा बंधन से उत्पन्न होता है। इसका उत्कंठा और चिंता से उत्पन्न (समुत्थित) निरपेक्ष (बेपरवाही का) भाव होता है। यह तीन प्रकार का होता है : धर्मापछात से उत्पन्न, क्षीणता द्वारा उत्पन्न एवं शोक द्वारा उत्पन्न।

8.3.3.4 रौद्र रस : रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध होता है। इसके विभाव हैं– अपमान, अनादर, असत्य भाषण, कठोर वचन, विद्रोह आदि। इसके अनुभाव हैं–लाल-लाल आँखें, टेढ़ी भौंह, दाँत पीसना, ओठ चबाना आदि। इसके व्यभिचारी हैं– सम्मोह, उत्सव, वेग, अमर्ष, चपलता, उग्रता, स्वेद, वेपथु (काँपना), रोमांच, गदगद होना आदि।

8.3.3.5 वीर रस : वीर रस का स्थायी भाव उत्साह होता है। इसके विभाव हैं– असंमोह, अध्यवसाय (निश्चय), नीति, विनय, बहुत पराक्रम, शक्ति, प्रताप, प्रभाव आदि। इसके अनुभाव हैं– स्थिरता, शूरता, त्याग, धैर्य, वैशारद (चतुरता) आदि। इसके व्यभिचारी (संचारी) भाव हैं– धृति, मति, गर्व, वेग, उग्रता, अमर्ष, स्मृति रोमांच आदि। (नाट्यशास्त्र, छठा अध्याय, 66-68) यह रस तीन प्रकार का होता है– दानवीर, युद्धवीर और धर्मवीर।

8.3.3.6 भयानक रस : भयानक रस का स्थायी भाव भय है। इसके विभाव हैं– विकृत शब्दवाले प्राणियों के दर्शन, गीदड़, उल्लू, डर, व्याकुलता, खाली घर, वन-प्रदेश, मरण, संबंधियों की मृत्यु या इनको बंधन में देखने, सुनने, कहने की स्थिति आदि। इसके अनुभाव हैं– मुँह का रंग फीका पड़ना, हाथों और पैरों में कंपन, रोमांच, स्वर-भंग आदि। स्तंभ (थर्राहट), स्वेद, गद्‌गद, रोमांच, काँपना, स्वरभंग, मुँह का रंग उड़ जाना, शंका, मोह (मूर्छा), दीनता, आवेग, चपलता, डर, मिर्गी, मरण आदि इसके संचारी भाव हैं। यह रस तीन प्रकार का होता है बहाने से, अपराध से और डर से।

8.3.3.7 वीभत्स रस : वीभत्स रस का स्थायी भाव जुगुप्सा है। यह अप्रिय एवं अमनोहर के दर्शन, अनिष्ट के सुनने, देखने एवं कहने आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसके अनुभाव हैं– सारे अंगों का निष्क्रय होना, मुँह का संकीर्ण होना, वमन, अंगों का हिलना, थूकना आदि। इसके व्याभिचारी (संचारी) हैं– अपस्मार, वेग, व्याधि, मोह, मरण आदि। (नाट्यशास्त्र, 6/63।।) यह रस तीन प्रकार का होता है क्षोभ से उत्पन्न, शुद्ध और उद्वेवेगी या उद्वेगजनक।

8.3.3.8 अदभुत रस : इस रस का स्थायी भाव विस्मय (स्मय) है। इसके विभाव हैं– अलौकिक वस्तु दर्शन, मनोकामना पूर्ति, उत्तम वन या देव मंदिरों में जाना, असंभव इंद्रजाल साधन आदि। इसके अनुभाव हैं– टकटकी लगाकर देखना, आँखें फाड़ना, आँसू, पसीना, रोमांच, हर्ष, साधुवाद होना, उपहार-दान, हा-हा करना आदि। इसके संचारी (व्यभिचारी) भाव हैं–स्तंभ, आँसू, पसीना, गद्‌गद्, रोमांच, आवेग, संभ्रम, जड़ता, प्रलय आदि। (नाट्यशास्त्र, /6/76/) यह दो प्रकार का दोहा है– दिव्य एवं आनंदोत्पन्न।

8.3.3.9 उपर्युक्त आठ रसों के अतिरिक्त शांत, भक्ति, एवं वात्सल्य रस की भी चर्चा होती है। शांत रस का लक्षण देते हुए धनंजय तथा धनिक ने 'दशरूपक' में लिखा है–

शम प्रकर्षों निर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता ।। 4/45।।

अर्थात्– शांत रस अभिर्वाच्य और शम का प्रकर्ष है तथा मोद इसका स्वरूप है।''

धनंजय और धनिक आगे लिखते हैं–

''न यत्र दु:खं न सुखं न चिंता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शांत: कथितो मुनीन्द्रै: सर्वेषु भावेषु शमप्रधान: ।।

(दशरूपकम, ।। 4/45 ।।)

अर्थात्– मुनिराजो ने उस रस को शांत कहा है जिसमें सुख, दु:ख, चिंता, द्वेष, राग, इच्छा आदि कुछ नहीं रहते और जिसमें सब भावों में शम प्रधान रहता है। (अनुवादक, पं० काशीराम शर्मा)

भरतमुनि ने शांत रस को नाटकों में इसलिए स्थान नहीं दिया था क्योंकि इसमें स्थायी भाव के रूप में निर्वेद के होने से यह क्रियाहीन है एवं क्रियाहीनता के चलते अनभिनेय है। पर आधुनिक काल में इसका संबंध श्रव्यकाव्य के साथ दृश्काल से भी स्थिर किया गया। हालांकि भरत धनंजय एवं धनिक ने शांत रस को अस्वीकृत किया है। अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में नौ रसों की स्वीकृति दी है। इनकी दृष्टि में नौंवा रस शांत रस है। वे कहते हैं–

''मोक्षाध्यात्मनिमित्तस्तत्त्व ज्ञानार्थ हेतु संयुक्त: ।
नि:श्रेयसधर्मयुत: शांत रसो नाम विज्ञेय: ।।''

अर्थात्, जिसका निमित्त मोक्ष और अध्यात्म है और जो तत्त्वज्ञान विषयक हेतु से युक्त है तथा निश्रेयस धर्म के सहित है, उसको शांत रस जानना चाहिए। (अनुवादक– डॉ० उदयभान सिंह आर्येन्यु शर्मा एवं सत्यदेव चौधरी)

शांत रस के विभाव हैं– वैराग्य, संसार से भीरुत्ता आदि। मोक्ष एवं शास्त्र की चिंता इसके अनुभाव हैं। निर्वेद, मति, स्मृति, धृति आदि इसके संचारी भाव है। सिद्धांत शास्त्रों में कहा गया है कि ''आठों देवताओं के शृंगार आदि रस दिखाने चाहिए और उनके बीच देवाधिदेव के शांत रूप की कल्पना करनी चाहिए।'' शृंगार रस के देवता विष्णु, हास्य का प्रथमथ (माहदेव का गण), रौद्र का रुद्रा, करुण का यम, वीभत्स का महाकाल, भयानक का कालदेव, वीर का महेंद्र और अद्भुत के देवता ब्रह्मा हैं।

रंग : शृंगार– श्याम; हास्य-श्वेत; करुण-कबूतर के रंगवाला, रौद्र-लाल ; वीर-गोरा ; भयानक-काला; वीभत्स-नीला और अद्भुत-पीला।

मम्मट ने काव्यप्रकाश में लिखा हैं– ''शान्तोऽपि नवमो रस:'' (का० प्र०, 4: 35), अर्थात् शांत रस नवम रस है। भरत ने नाट्यशास्त्र में शांत रस ही संभावना का निर्देश किया है। अत: शांतो नाम। मोक्षाध्यात्मसमुत्थ ....." शांत रसो नाम संभवति। एवं नव रसा दृष्टा नाट्य ज्ञै लक्षणान्विता:'' अर्थात् मोक्ष और अध्यात्म की भावना से जिस रस की उत्पत्ति होती है, उसको शांत रस नाम देना संभाव्य है। (कन्हैयालाल पोद्दार; स० स० इ०, द्वि० भा०)। नाट्यशास्त्र में ही भरत ने एक स्थान पर यह प्रतिपादित किया है कि शांत रस से ही रति आदि आठ स्थायी भावों की उत्पत्ति होती है और शांत में ही उनका विलय हो जाता है– स्वं स्वयं निमित्तमासाद्य शांताद्नाव: प्रवर्तते। पुनर्मिमित्ताये च शांत एकोपलीयते।'' (नाट्यशास्त्र; 6/108) अभिनवगुप्त ने निर्वेद के स्थान पर तत्त्वज्ञान को शांत रस का स्थायी भाव माना है। अग्निप्रराणकार ने रति के अभाव से ही शांत रस की उत्पत्ति मानी है। रुद्रट ने सम्यक् ज्ञान को, आनंद वर्धन ने 'तरुणाक्ष्यसुख' को तथा अनेक विद्वानों ने 'सर्वचित्तवृत्तिप्रशम', 'निर्विरोध चित्तवृत्ति', 'धृति', 'उत्साह' आदि को शांत रस का स्थायी भाव माना है। जिस प्रकार हास हास्य रस का स्थायी भाव हास माना गया है, उसी पर 'शम' को शांत रस का स्थायी भाव मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

8.3.3.10 वात्सल्य रस : 'वात्सल्य' शब्द 'वत्स' से समुत्पन्न है। यह पुत्रादि विषयक रति का पर्याय है। रस की अपेक्षा भाव के लिए इसका प्रयोग अधिक समीचीन ठहरता है। प्राचीन आचार्यों ने 'वात्सल्य रस' न लिखकर 'वत्सल' रस लिखा है। उन्होंने वात्सल्य या वत्सलता को उसका (वत्सल रस का) स्थायी भाव माना है। शृंगार प्रकाश में भोजराज ने लिखा है–

''शृंगार की करुणाद्भुतरौद्रहास्यवीभत्सवत्सलभयानक शांत नाम्नः।'' भोजराज (11वीं श० ई०) ने वत्सल रस को मिलाकर कुल दस रसों को स्वीकार किया है। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में वत्सल रस का लक्षण देते हुए लिखा है : स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः। स्थायी वत्सलतास्नेह 'पुत्राद्यालम्बनं मतम्''– अर्थात्, प्रकट चमत्कार होने के कारण वत्सल को भी रस माना जाता है। वत्सल्य स्नेह इसका स्थायी भाव माना जाता है तथा पुत्रादि को आलंबन।'' इसके आगे इसके उद्दीपन, अनुभाव और संचारी के संबंध में वे लिखते हैं– ''बालसुलभ चेष्टाओं के साथ-साथ उसकी विद्या, शौर्य, दया आदि विशेषताएँ उद्दीपन हैं; आलिंगन, अंगस्पर्श, शिर का चूमना, देखना, रोमांच, आनंदाश्रु आदि अनुभाव है; अनिष्ट की आशंका, दर्ष, गर्व आदि संचारी हैं।'' (साहित्य दर्पण, इः 253-54) 'काव्य में रस'– जगदीशगुप्त)

8.3.3.11 भक्ति रस : भरत से लेकर पंडित जगन्नाथ तक (321 ई० से 17-18 श० ई० तक) किसी आचार्य ने भक्ति रस को मान्यता नहीं दी। 'रसगंधार' में पंडित जगन्नाथ ने भक्ति को भाव के अन्तर्गत लिया और उसमें रसत्व की स्थिति नहीं मानी। मधुसूदन सरस्वती ने 'भक्ति रसायन' में भक्ति रस को दसवाँ रस बताया और उसे सब रसों से श्रेष्ठ बताया। रूप गोस्वामी (गोड़ीय संप्रदाय के प्रतिष्ठित आचार्य, 15वीं-16वीं श० ई०) ने 'हरिभक्ति रसामृत सिंधु' में भक्ति रस की सांगोपांग विवेचना की है। भक्ति रस की मान्यता का सर्वाधिक श्रेय इन्हें हीं जाता है। उन्होंने भक्ति के पाँच रूप माने– शांति, प्रीति, प्रेम, वत्सल और मधुर। आधुनिक काल में अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने भक्तिरस को प्रतिष्ठित करते हुए लिखा– ''मेरा विचार है कि वत्सल में उतना चमत्कार नहीं, जितना भक्ति में है। कन्हैयालाल पोद्दार भक्ति रस के अंगों की विवेचना इस प्रकार करते हैं : 1. स्थायी भाव– भगवद्विषयक अनुराग, 2. आलंबन विभाव : भगवान राम, कृष्ण आदि के अखिल, विश्व-सौंदर्य-निधि दिव्य विग्रह; 3. अनुभाव : भगवान के अनन्य प्रेमजन्य अश्रु, रोमांच आदि; व्यभिचारी भावः हर्ष, सुख, आवेग, चपलता, उन्माद, चिंता, दैत्य, धृति, स्मृति और मति।

8.4 सारांश

प्रस्तुत पाठ में रस के स्वरूप की चर्चा करते हुए उसके विभिन्न अंगों को विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है। साथ ही, रस के प्रमुख भेदों को उनके विभावों अनुभावों और संचारियों के साथ विश्लेषित किया गया है।

–प्रो० (डॉ०) गणेश प्रसाद

8.5 लघुउत्तरीय प्रश्न और उनके उत्तर

1. रस की परिभाषा देते हुए इसके विभिन्न भेदों का भेदों का उलेख करें।

उत्तर– देखें 8.3.2.1

2. रस के विभिन्न अंगों का उल्लेख करें।

उत्तर– देखें 8.3.2.2

3. आलंबन विभा और उद्दीपन विभाव के स्वरूप पर प्रकाश डालें।

उत्तर– देखें, 8.3.2.2.3 एवं 8.3.2.4

4. अनुभाव और संचारी के स्वरूप पर प्रकाश डालें।

उत्तर– देखें, 8.3.2.2.5 एवं 8.3.2.2.7

8.6 दीर्घउत्तरीय प्रश्न और उनके उत्तर

1. शृंगार रस के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालें।

उत्तर– देखें, 8.3.3.1

2. हास्य एवं करुण रस के विभिन्न अंगों की विवेचना करें।

उत्तर– देखें, 3.3.2 एवं 3.3.3

3. रौद्र एवं वीर रस की विवेचना करें।

उत्तर– देखें, 3.3.4 एवं 3.3.5

4. भयानक और वीभत्स रस की समीक्षा करें।

उत्तर– देखें– 3.3.6 एवं 3.3.7

5. अद्‌भुत एवं शांत रस की विवेचना करें।

उत्तर– देखें, 3.3.8 एवं 3.3.9

6. वत्सल एवं भक्ति रस पर प्रकाश डालें।

उत्तर– देखें, 3.3.10 एवं 3.3.11

8.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. नाट्यशास्त्र के रचयिता इनमें से कौन हैं ?

(क) मम्मट (ख) रुद्रट

(ग) उद्‌भट्ट (घ) भरत

2. शृंगार रस का स्थायी भाव होता है–

(क) हास (ख) शम (ग) रति (घ) उत्साह

3. शांत रस का स्थायी भाव होता है–

(क) निर्वेद (ख) उत्साह (ग) जुगुप्सा (घ) भय

4. विश्वनाथ की रचना का नाम है–

(क) साहित्यदर्पण (ख) काव्यालंकार

(ग) सरस्वतीकंठाभरण (घ) औचित्य विमर्श

5. 'रस गंगाधर' के रचचिता कौन हैं ?

(क) विश्वनाथ (ख) पंडित जगन्नाथ

(ग) मम्मट (घ) कुलपति मिश्र

6. 'व्यक्तिविवेक' के रचयिता हैं–

(क) कंतक (ख) महिम भट्ट (ग) क्षेमेंद्र (घ) राजशेखर

7. अभिनवगुप्त की प्रसिद्ध कृति है–

(क) अभिनव भारती (ख) ध्वन्यालोक

(ग) औचित्य विचार चर्चा (घ) काव्यप्रकाश

8. हास्य रक्षा किस रस का सहयोगी (रस) है ?

(क) वीर रस (ख) करुण रस

(ग) शृंगार रस (घ) भयानक रस

उत्तर :- 1. (घ), 2. (ग), 3. (क), 4. (क), 5. (ख), 6. (क), 7. (ग)

8.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

□ लघुउत्तरीय प्रश्न :

1. रस की परिभाषा देते हुए इसके विभिन्न भेदों का उल्लेख करें।
2. रस के विभिन्न अंगों का उल्लेख करें।
3. टिप्पणी लिखें–

(क) शृंगार रस, (ख) वीर रस, (ग) अद्‌भुत रस, (घ) भयानक रस, (ङ) शांत रस, (च) बत्सल रस, (छ) भक्ति रस, (ज) रौद्र रस, (झ) वीभत्स रस।

8.9 सहायक ग्रंथ

1. कन्हैयालाल पोद्दार – रसमंजरी, साहित्य समीक्षा
2. गुलाब राय – नवरस
3. अयोध्या सिंह उपध्याय 'हरिऔध' – रसकलकस
4. रामचंद्र शुक्त – रसमीमांसा
5. डॉ० नगेंद्र – रस सिद्धांत

◆◆◆

काव्य-रीति

पाठ-संरचना

9.1.1 रीति : परिभाषा और स्वरूप

वामन की परिभाषा

भामह और दण्डी की परिभाषा

विश्वनाथ की परिभाषा

कुन्तक की परिभाषा

आनन्दवर्धन की परिभाषा

राजशेखर की परिभाषा

9.1.2 रीति का रस, गुण, अलंकार, वृत्ति, प्रवृत्ति और शैली से सम्बन्ध

रीति और रस

रीति और गुण

रीति और अलंकार

रीति और वृत्ति

रीति और प्रवृत्ति

रीति और शैली

9.2 रीति के भेद

दण्डी के अनुसार

वामन के अनुसार

रुद्रट के अनुसार

राजशेखर के अनुसार

शारदातनय के अनुसार

कुन्तक के अनुसार

विश्वनाथ के अनुसार

9.2.1 वैदर्भी रीति

गौडी रीति

पांचाली रीति

लाटी रीति

9.1.1 रीति गुण : परिभाषा और स्वरूप

पदों की विशिष्ट रचना या 'संघटन' को रीति कहते हैं। रीति तत्त्व के उद्भावक आचार्य वामन ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है–

'विशिष्टा पदसंघटन रीति' : काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, 1.2.7 अर्थात्, विशिष्ट पद-संघटना को रीति कहते हैं। 'संघटना' से तात्पर्य है विन्यास। इसी से आचार्य मम्मट (काव्य प्रकाश, 9.81) ने वर्णों के विशिष्ट विन्यास-क्रम को ही 'रीति' के नाम से अभिहित किया था और उसे गुणयुक्त मानकर रस की अभिव्यक्ति का साधक तत्त्व बताया था।

वामन के अनुसार रीति पद-रचना का वह प्रकार है, जो दोषों से मुक्त हो एवं गुणों से अनिवार्यतः तथा अलंकारों से साधारणतः सम्पन्न हो। इस प्रकार, रीति गुण-सम्बद्ध होती है– 'विशेषोगुणात्मा' (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति)

आचार्य वामन ने रीति का सम्बन्ध समास से बताया है। अतः, कुछ आचार्यों ने समासहीनता, स्वल्पसमासता, दीर्घसमासता के रूप में भी रीति की विवेचना की है। ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि में रीति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध वर्ण-विन्यास से है। अतएव, विषय की स्पष्टता के लिए पहले रीति के मूल स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है।

'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति रीङ् गतौ गत्यर्थक 'रीङ्' धातु और 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से बतायी जाती है। रीति शब्द के द्वारा अभिव्यञ्जना की विभिन्नता का परिचय मिलता है। आधुनिक काल में रीति को शैली का पर्याय भी माना जाता है।

ज्ञातव्य है कि आचार्य भामह और आचार्य दण्डी ने जिसे 'मार्ग' कहा था, उसे ही वामन ने 'रीति' की संज्ञा प्रदान की। हाँ, रीति का विस्तृत विवेचन सबसे पहले वामन ने ही किया। वैसे आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में रीति के लिए 'प्रवृत्ति' पद का प्रयोग किया था। परन्तु रीति को काव्य की आत्मा के रूप में सुप्रतिष्ठित कर वामन ने रीति को अन्यतम गौरव प्रदान किया। 'रीतिरात्मा काव्यस्य'– काव्यालंकारसूत्र वृत्ति) 1.2.6 आचार्य विश्वनाथ के अनुसार– 'पदसंघटना रीतितरंगसंस्थाविशेषवत्।' (साहित्यदर्पण, 9.1) अर्थात्, विशिष्ट पद-रचना रीति हैं, जिससे काव्य-सौन्दर्य में वृद्धि करने एवं रसोद्भावना में पर्याप्त सहायता मिलती है।

वक्रोक्तिजीवित में आचार्य कुन्तक ने भी रीति को 'मार्ग' ही कहा है, जिसका आधार कवि-स्वभाव है। इस आधार पर उन्होंने त्रिमार्ग-सिद्धान्त-सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया, जो क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पांचाली रीति का नामांतर मात्र है।

ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में आचार्य आनन्दवर्धन ने रीति के नियामक तत्त्वों के रूप में रसौचित्य, वक्त्रौचित्य, वाच्यौचित्य तथा विषयौचित्य की चर्चा की है।

आचार्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा में भौगोलिक आधार के साथ-साथ 'वचन विन्यासक्रम' को रीति का आधार निर्दिष्ट किया।

9.1.2 रीति का रस, गुण, अलंकार, वृत्ति, प्रवृत्ति और शैली से सम्बन्ध :

रीति और रस : आचार्य वामन के अनुसार रस रीति का अंग है, उसका अंगी नहीं। इस प्रकार, वे रस की अपेक्षा रीति को ही अधिक महत्त्व देते हैं। परन्तु, वामन का यह मत ध्वनिवादी-रसवादी आचार्यों

को मान्य नहीं है। रीति को गुण-सम्बद्ध मान लेने पर भी रस को ही सर्वाधिक महत्त्व देना होगा– उसे ही अंगी के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि गुण भी रस का अंश ही होता है, उसका अंगी नहीं। 'अंगी' का अभिप्राय है प्रधान आधार और अंग उस प्रधान आधार का ही अंश हुआ करता है। हाँ, रीति और गुण में सम्बन्ध होने से रस के साथ उसका भी सन्निवेश अवश्य हो जाता है। आचार्य रुद्रट (काव्यालंकार, 14. 37) ने तो स्पष्टतया इसका संकेत कर दिया है कि वैदर्भी एवं पांचाली रीतियों में शृंगार, करुण, भयानक एवं अद्‌भुत रसों का तथा लाटी और गौड़ी रीतियों में वीर, रौद्र आदि रसों का समावेश किया जाना ही उचित है।

रीति और गुण :

गुण को रीति के लिए अनिवार्य तत्त्व माना था आचार्य वामन ने। उन्होंने काव्य में रीति को अंगी और गुण को उसका अंग सिद्ध करने का प्रयास किया था। परन्तु, वामन के इस मत में संशोधन की अपेक्षा प्रतीत होती है। यह ठीक है कि जैसे रस और गुण में अभिन्न सम्बन्ध है, वैसे ही रीति और गुण में भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। रीति गुणाश्रित होकर ही रस की अभिव्यक्ति में साधक तत्त्व की भूमिका निभा पाती है। अतः गुण रस का अंग है, रीति का नहीं।

रीति और अलंकार :

आचार्य वामन ने भी अलंकार को काव्य का बाह्य शोभावर्धक बताया था। इस प्रकार, रीति के लिए जितना महत्त्व गुण का है, उतना अलंकार का नहीं। हाँ, अलंकार भी रीति का उपकारक अवश्य होता है।

रीति और वृत्ति :

'सर्वेषामेव काव्यानां मातृका वृत्तयः स्मृताः' – (नाट्यशास्त्र, 20.4) अर्थात 'वृत्तियाँ काव्य की माताएँ होती हैं। कहकर आचार्य भरत ने वृत्ति को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। चार अर्थवृत्तियों– भारती, कौशिकी, आरभटी, सात्त्वती और तीन शब्दवृत्तियों– उपनागरिका, पुरुषा और कोमला की विवेचना के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि उत्कृष्टतम रस-व्यंजना के निमित्त अत्यन्त सतर्कतापूर्वक इन वृत्तियों का प्रयोग किया जाता है। वृत्तियाँ और रीतियाँ परस्पर सम्बद्ध भी रहती हैं। आचार्य मम्मट ने तो उपनागरिका वृत्ति और वैदर्भी रीति में किसी प्रकार का अन्तर ही नहीं माना है।

रीति और प्रवृत्ति :

प्रवृत्ति का निर्धारण देश, वेश, भाषा, आचार और वार्ता के अनुसार हुआ करता है। जहाँ तक काव्य की रीतियों का प्रश्न है, इनमें से भाषा का ही उनके साथ घनिष्ट सम्बन्ध प्रतीत होता है, क्योंकि वचन-विन्यास भाषा का ही विषय है।

आचार्य भरत (नाट्यशास्त्र, 15) ने भौगोलिक आधारों पर प्रवृत्ति के चार भेद माने हैं– आवन्ती, दक्षिणात्या पाञ्चाली और औड्रमागधी।

राजशेखर (काव्यमीमांसा) ने भरत का अनुसरण करते हुए यह कहा है कि यद्यपि क्षेत्रगत विशेषताओं के अनुसार प्रवृत्तियाँ अनेक प्रकार की होती हैं, पर उन्हें चार भेदों के अन्तर्गत ही सीमित कर दिया गया है।

कुछ विद्वानों का मानना है कि प्रवृत्ति बाह्य वस्तु है, जबकि रीति आन्तरिक। परन्तु, प्रवृत्ति को बिल्कुल बाह्य अथवा केवल भौगोलिक नहीं कहा जा सकता। भूगोल का प्रभाव तो प्रवृत्ति पर पड़ता ही है, पर आन्तरिक संस्कार भी उसके स्वरूप-निर्माण में प्रमुख भूमिका प्रस्तुत करता है। कवि-स्वभाव और प्रवृत्ति में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

इस प्रकार, काव्य-रचना में रीति प्रवृत्ति से पृथक् नहीं रह सकती। रीति का गुण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है और प्रवृत्ति भी प्रकारान्तर से गुण को ही अभिव्यक्त करती है।

रीति और शैली :

शैली की यह विशेषता होती है कि वह वस्तु-प्रधान और व्यक्ति-प्रधान-दोनों हुआ करती है। जहाँ तक रीति का प्रश्न है, वह व्यक्ति प्रधान नहीं होती। उसे काव्य-गुण के अनुकूल ही अपना स्वरूप स्थिर करना पड़ता है। इसके विपरीत, शैली मुख्यतः व्यक्ति के निज के वैशिष्ट्य से अपना रूप ग्रहण करती है। अतः रीति और शैली में सम्बन्ध तो है, पर उसे शैली का पर्याय मान लेना बहुत उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

9.2 रीति के भेद

विभिन्न विद्वानों ने रीति के भेद अलग-अलग प्रकार से बताए हैं। रीतियों का भेद-निर्धारण मुख्यतः भौगोलिकता के आधार किया जाता है। भामह ने रीति के दो भेदों-वैदर्भी और गौडी का उल्लेख किया है।

रीति को पद्धतियों के रूप में चार भागों में विभक्त किया गया : उदीच्य, प्रतीच्य, दाक्षिणात्य और गौडा।

दण्डी (काव्यादर्श, 1.10) ने रीति के लिए 'मार्ग' शबद का प्रयोग किया और 'वैदर्भ' तथा 'गौड' नामक दो मार्ग बताएँ।

आचार्य वामन के अनुसार– ''सा त्रिधा वैदर्भी गौडीया पांचाली च' और इस प्रकार उन्होंने रीति के तीन भेद कर दिए : वैदर्भी, गौडी और पांचाली।

वामन के परवर्त्ती आचार्य रुद्रट ने रीति को वृत्ति कहा और चार प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख किया–

1. लाटीया
2. गौडीया
3. वैदर्भी
4. पांचाली।

राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में वैदर्भी, पांचाली एवं गौडी का; 'कर्पूरमंजरी' में 'मागधी' का तथा 'बालरामायण' के दशम अंक में 'मैथिली' नामक रीति का उल्लेख किया है।

आचार्य शारदातनय (भावप्रकाश) ने सौराष्ट्री एवं द्राविड़ी नामक दो रीतियों को जोड़कर रीति के छह भेद कर दिए।

आचार्य कुन्तक ने रीति का भौगोलिक आधार नहीं माना। उन्होंने 'वक्रोक्तिजीवित' में वैदर्भी रीति को सुकुमार मार्ग, गौडी रीति को विचित्र मार्ग तथा पाञ्चाली रीति को मध्यम मार्ग के नाम से अभिहित किया।

वैसे रीति के एक सौ पाँच भेदों का उल्लेख मिलता है। पर, आचार्य मम्मट (काय प्रकाश) ने रीति के तीन भेद और आचार्य विश्वनाथ (साहित्यदर्पण) ने रीति के चार भेद माने हैं– वैदर्भी, गौडी, पांचाली और लाटी।

सभी विद्वानों की मान्यताओं का अध्ययन करने के बाद ज्ञात होता है कि रीति के चार भेद–वैदर्भी, गौडी, पांचाली और लाटी ही सर्वमान्य हैं। अतएव, यहाँ इन चारों रीतियों, का सोदाहरण परिचय देना ही अभीष्ट है।

9.2.1.1 वैदर्भी रीति :

विदर्भ आदि देशों में प्रचलित रीति वैदर्भी मानी गई हैं। यह काव्य-रीतियों में अत्युत्कृष्ट रीति समझी जाती है। काव्य में माधुर्य गुण की व्यंजना करने वाले वर्गों द्वारा वृत्तिहीन (समासरहित) अथवा अल्पवृत्ति (अल्पसमास) वाली रचना वैदर्भी कहलाती है। यह रीति माधुर्यगुण पर अवलंबित है और इसमें माधुर्य गुण, सुकुमार वर्णों, असमासा या मध्यमासा तथा सौकुमार्यवती रचना का एकत्र योग होता है। अधिकांश आचार्यों ने इसे सर्वोत्तम रीति माना है।

उदाहरण :

'रुनित भृंग घंटावली, झरत दान मधुनीर।
मंद मंद आवत चल्यों, कुंजर कुंज समीर।।' **–बिहारी**

'मधुनीर', 'मंद मंद आवत चल्यों' से मधुरता और सुकुमारता एक साथ ध्वनित हो जाती है।

9.2.3.2 गौडी रीति :

गौडी ओजपूर्ण शैली है। इस रीति में ओज तथा कांति गुणों की प्रधानता रहती है और समास-बहुलता तथा उद्‌भट पदों का प्राचुर्य रहता है। कुन्तक के विचित्र मार्ग के भीतर इस रीति का समावेश हो सकता है। आचार्य रूद्रट ने इसे दीर्घ समासवादी रीति माना है, जो रौद्र, भयानक, वीर आदि और उग्र रसों की अभिव्यञ्जना के लिए बहुत उपयुक्त होती है।

उदाहरण :

''रवि हुआ अस्तः ज्योति के पत्र में लिखा अमर
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर
आज का, तीक्ष्ण-शर-विद्युत-क्षिप्र-कर, वेग-प्रखर
शतशेलसम्वरणशील, नील नभ गर्जित-स्वर
प्रतिपल परिवर्त्तित व्यूह, भेद-कौशल-समूह।''

–निराला (अनामिका)

उपर्युक्त पंक्तियों की शैली तो ओजपूर्ण है ही, साथ ही इनमें दीर्घसमास पदों का भी उपयोग किया गया है, अतः यह गौडी रीति का उदाहरण है।

9.2.4.3. पांचाली रीति :

इस रीति की कल्पना पहली बार आचार्य वामन ने की। वामन के अनुसार पांचाली रीति में ओज तथा कांति का अभाव और माधुर्य तथा सौकुमार्य की अधिकता रहती है। कुन्तक के त्रिमार्ग-सम्बन्धी मध्यम मार्ग में इस रीति के दर्शन होते हैं। रुद्रट के अनुसार पांचाली लघुसमास वाली रीति है।

उदाहरण :

''करौ कोटि अपराध तुम, वाके हिय न रोष।
नाह सनेह समुद्र में, बूड़ि जात सब दोष।।'' **–बिहारी (सतसई)**

'स्नेह समुद्र' के प्रयोग से मांधुर्य और सौकुमार्य स्वतः व्यंजित हो जाता है।

9.2.5.4. लाटी रीति :

आचार्य रुद्रट इस रीति के उद्‌भावक हैं। यह एक मध्यम समासवाली रीति है, जिसमें पांचाली से अधिक और गौडी से कम समास होते हैं– यह उग्र रसों के लिए उपयुक्त रीति है।

उदाहरण :

"अहे वासुकि सहस्र फन।
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्ष स्थल पर।"

–पल्लव, सुमित्रानन्दन पंत

यहाँ 'वासुविक', 'सहस्र फन', 'विक्षत' आदि के ध्वनन से ही उग्रता की व्यंजना हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गुण, वर्ण-विन्यास, समास, भौगोलिक क्षेत्र एवं कवि-स्वभाव ही रीति के प्रमुख आधार रहे हैं तथा उनके अनुसार ही विभिन्न विद्वानों ने उसके स्वरूप का निर्धारण और भेदो का विवेचन किया है।

◆◆◆

ध्वनि का सामान्य परिचय

पाठ-संरचना

10.1 उद्देश्य

10.2 परिचय

10.3 विषय विस्तार

- 10.3.1 ध्वनि व्यंग्यार्थ का स्वरूप
- 10.3.2 वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में अंतर
- 10.3.3 ध्वनि (काव्य) के भेद

10.4 ध्वनि के भेद

- 10.4.1 अर्थांतरसंक्रमित वाच्य ध्वनि
- 10.4.2 अत्यंततिरस्कृत वाच्यध्वनि
- 10.4.3 वस्तु ध्वनि
- 10.4.4 अलंकार ध्वनि
- 10.4.5 रस ध्वनि
- 10.4.6 समीक्षा
- 10.4.7 रसादि एवं रसध्वनि
- 10.4.8 भावोदय, भावसंधि और भावशबलता
- 10.4.9 गुणीभूत व्यंग्य

10.5 चित्रकाव्य

10.6 सारांश

10.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

10.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

10.9 सहायक ग्रंथ

10.1 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का उद्देश्य है छात्रों को ध्वनि सिद्धांत से परिचित कराना।

10.2 परिचय

ध्वनि सिद्धांत के प्रवर्त्तक आनंदवर्धन हैं। वे नवम शती ई० में विद्यमान थे। उन्होंने ध्वन्यालोक नामक काव्यशास्त्रीय ग्रंथ का लेखन किया। आनंदवर्धन के पूर्व रस, अलंकार और रीति सिद्धांत की पर्याप्त विवेचना हो चुकी थी। आनंदवर्धन में उपर्युक्त सिद्धांतों की विवेचना करते हुए इन्हें नूतन रूप प्रदान किया और उन्हें ध्वनि सिद्धांत के अंतर्गत समाविष्ट कर लिया।

10.3 विषय विस्तार

ध्वनि सिद्धांत एक प्रमुख काव्यशास्त्रीय सिद्धांत है। इस सिद्धांत के पूर्व रस, अलंकार और रीति सिद्धांतों का प्रवर्त्तन हो चुका था। इस सिद्धांत के पश्चात् दो और प्रमुख सिद्धांतों (काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों) की प्रतिष्ठा हुई। ये काव्यशास्त्रीय सिद्धांत हैं– वक्रोक्ति सिद्धांत (कुंतक) और औचित्य सिद्धांत (क्षेमेंद्र 11वी शती)

भले ही आनंदवर्धन को ध्वनि सिद्धांत का प्रवर्त्तक माना जाता हो, पर उन्होंने अपने ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' में यह स्पष्ट रूप से संकेत किया है कि उनसे पूर्ववर्ती और समकालीन आचार्यों ने ध्वनि और इसके भेदों का विशद रूप से निरूपण किया है। वे ध्वन्यालोक के प्रथम और तृतीय अध्याय में कहते हैं :

(क) काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नात पूर्वः (101)

(ख) विमतिविषयो य असीन्मनीषिणां सततमविदितसत्त्वः
ध्वनि संज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यंजितः सोऽयम् ।।

(ध्वन्यालोक, 3.34)

यद्यपि 'ध्वन्यालोक' से इस बात की पुष्टि होती है कि 'आनंदवर्धन' के पूर्व और उसके समय में 'ध्वनि' सिद्धांत पर विभिन्न आचार्यों ने विशद विवेचना की है, पर अब 'ध्वन्यालोक' को छोड़कर कोई दूसरा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। अतः ध्वनि सिद्धांत के प्रमुख प्रवर्त्तक आचार्य के रूप में आनंदवर्धन को ही महत्ता दी जाती है।

आनंदवर्धन ने अपने पूर्व के काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों– रस, अलंकार और रीति की त्रुटियों को पहचाना और ध्वनि यानी व्यंग्यार्थ का प्रवर्त्तन किया।

काव्यशास्त्र में 'ध्वनि' का प्रयोग पाँच अर्थों में प्राप्त होता है– 1. व्यंजना शब्द शक्ति 2. व्यंजक शब्द 3. व्यंजक अर्थ 4. व्यंग्यार्थ और 5. व्यंग्यार्थ प्रधान काव्य। 'ध्वनि' के स्वरूप विवेचन के क्रम में आनंदवर्धन ने शब्द की तीसरी शक्ति व्यंजना से संबद्ध ध्वनि (व्यंग्यार्थ) का प्रवर्त्तन किया। व्यंग्यार्थ काव्य का आंतरिक एवं व्यापक तत्त्व होता है।

ध्वनि सिद्धांत पर व्याकरण के स्फोट का प्रभाव स्वीकार किया गया है, पर वास्तव में यह प्रभाव प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष है। स्फोदवादियों के मत में ध्वनि व्यंजक है और स्फोट व्यंग्य। ध्वनि सिद्धांत के प्रतिपालक ने व्याकरण के स्फोटवाद से ध्वनि, व्यंजक और व्यंग्य शब्द ले लिया पर उन्होंने इन शब्दों का प्रयोग भिन्न अर्थ में किया। अलंकारशास्त्रियों ने अलंकार निरूपण में (उद्भट द्वारा पर्यायोक्ति अलंकार के निरूपण में) व्यंजक और व्यंग्य (अवगमित) का प्रयोग किया है, वहीं प्रयोग अपने विकसित रूप में ध्वनि सिद्धांत में प्रस्फुटित हुआ है।

10.3.1 ध्वनि (व्यंगार्थ) का स्वरूप :

आनंदवर्धन ने ध्वनि का स्वरूप स्पष्ट करते हुए ध्वन्यालोक में (1.13) में लिखा है :

- यत्रार्थः शब्दों वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थों।

व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः। अर्थात– वाच्य (अर्थ) एवं वाचक (शब्द) अपने-अपने अस्तित्व को गौण बनाकर जिस विशिष्ट अर्थ को प्रस्तुत करते हैं, वह अर्थ ध्वनि कहलाता है।

ध्वन्यालोक में वे इसके आगे (1.14) कहते हैं–

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वसवस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु ।। ("1.4")

अर्थात्– "प्रतीयमान कुछ और ही चीज जो रमणियों के प्रसिद्ध (मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि) अवयवों से भिन्न (उनके) लावण्य के समान, महाकवियों की सूक्तियों में (वाच्य अर्थ से अलग ही) भासित होता है।" ("1/4")

महाकवियों की वाणियों में वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है जो प्रसिद्ध अलंकारों अथवा प्रणीत होनेवाले अवयवों से, सहृदय-सुप्रसिद्ध, धारणाओं के लावण्य के समान अलग ही प्रकाशित होता है। जिस प्रकाश सुंदरियों का सौंदर्य पृथक दिखाई देनेवाला समस्त अवयवों से भिन्न सहृदय नेत्रों के लिए अमृत तुल्य कुछ और ही तत्त्व है, इसी प्रकार वह (प्रतीयमण) अर्थ है।"

(भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा, सं० डॉ० नगेंद्र, पृ० 105)

आनंदवर्धन इसके आगे (।।1/9।।) में कहते हैं कि जिस प्रकार दीपशिखा और उससे मिलनेवाला आलोक अलग-अलग पदार्थ हैं, उसी प्रकार, वाच्यार्थ और उससे व्यंजना शक्ति के द्वारा अभिव्यक्त 'व्यंग्यार्थ' और उससे व्यंजनाशक्ति के द्वारा अभिव्यक्त 'व्यंग्यार्थ' अलग-अलग तत्त्व हैं।

"आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया तद्वय् अर्थे वाच्ये तदादृतः।। (ध्वन्यालोक, 109)

आनंदवर्धन कहते हैं कि ध्वन्यर्थ सुंदरियों की व्यञ्जा के समान सौंदर्य की आंतरिक स्थिति है जो अत्यंत आकर्षक और विमोहक होता है।

मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायेषु भूषा लज्जेवयोबिताम् ।। (ध्वन्या० 3.38)

आनंदवर्धन के उपर्युक्त कथनों का सार है :

- व्यंगार्थ (ध्वनि) शब्दार्थ से भिन्न तत्त्व है।
- ध्वनि काव्य का आंतरिक तत्त्व है। जिस प्रकार लावण्य और लज्जा किसी सुंदरी का आंतरिक सौंदर्य है, और वह उस रमणी के काव्य सौंदर्य से भिन्न है, उसी प्रकार काव्य का आंतरिक सौंदर्य 'ध्वनि' (व्यंगार्थ) है जो वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न होता है।
- जिस प्रकार दीपशिखा और उससे निकलनेवाला आलोक, दोनों भिन्न-भिन्न वस्तु हैं, उसी प्रकार काव्य में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों भिन्नात्मक हैं।
- शब्दार्थ तो आधार एवं साधन है, पर ध्वनि आधेय और साध्य है। जिस प्रकार लावण्य के लिए किसी सुंदरी के अंगों की या प्रकाश के लिए दीपशिखा की अपेक्षा रहती है, उसी प्रकार ध्वनि के लिए शब्दार्थ (वाचक और वाच्य अर्थ) की अपेक्षा रहती है।

कहना चाहें तो कह सकते सकते हैं कि 'वाच्यार्थ' से भिन्न अर्थ ही 'ध्वनि' या 'व्यंग्यार्थ' है। आनंदवर्धन ने इसी व्यंग्यार्थ या ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा है। आनंदवर्धन कहते हैं : "वह (प्रतीयमान, अर्थ और उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ विशेष शब्द इन दोनों को भली प्रकार पहचानने का प्रयत्न महाकवि को (जो महाकवि बनना चाहे, उसको) करना चाहिए।" (ध्वन्या० 1.8)

(सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थयोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकाव्वेः ।।)

10.3.2 वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में अंतर :

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में निम्नलिखित आठ भेद हैं :

□ वाच्यार्थ का निमित्त कारण शब्द है लेकिन व्यंग्यार्थ का प्रतिभा नैर्मल्य। यहीं कारण है कि वाच्यार्थ का ज्ञाता बोद्धा कहलाता है और व्यंग्यार्थ का ज्ञाता सहृदय।

□ वाच्यार्थ का आश्रय शब्द है लेकिन व्यंग्यार्थ का आश्रय शब्द के अतिरिक्त उसका एक वर्ण, देश, या वर्ण-विन्यास है और कभी चेष्टा आदि भी।

□ वाच्यार्थ का कार्य है वस्तु मात्र का बोध पैदा करना लेकिन व्यंग्यार्थ का कार्य है चमत्कार की प्रतीति कराना।

□ वाच्यार्थ का बोध पहले होता है, और व्यंग्यार्थ का वाच्यार्थ के बाद। लेकिन वाच्यार्थ के बाद व्यंग्यार्थ की प्रतीति इतनी शीघ्रता के साथ होती है कि इन दोनों अर्थों में (वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ) पूर्व और पर का क्रम लक्षित नहीं हो पाता। कमल के शत पत्रों को सूई एक ही समय में बेधती हुई सी जान पड़ी है, पर वास्तविकता यह है कि कमल के शत पत्रों के भिंदने में एक क्रम अवश्य होता है।

□ सारे बोद्धाओं के लिए एक वाच्य का वाच्यार्थ एक समान ही होता है, पर व्यंग्यार्थ भिन्न-भिन्न बोद्धाओं के लिए अलग-अलग होता है। 'सूर्योदय हो गया– इसका वाच्यार्थ छात्र, स्त्री, दुकानदार, पंडित, स्नानार्थी सबके लिए एक है, पर इसका व्यंग्यार्थ इन सबके लिए अलग-अलग होने के कारण असंख्य हैं। बोद्धा एवं संख्या के आधार पर वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का अंतर स्पष्ट है।

□ कहीं वाच्यार्थ का विषय एक व्यक्ति होता है और व्यंग्यार्थ का विषय दूसरा व्यक्ति।

□ वाच्यार्थ का स्वरूप यदि विधिरूप होता है तो व्यंग्यार्थ का निषेध-रूप; वाच्यार्थ का स्वरूप यदि संशयात्मक होता है तो व्यंग्यार्थ का निश्चयात्मक; वाच्यार्थ का स्वरूप निंदापरक होता है तो व्यंग्यार्थ का स्वरूप स्तुतिपरक।

आनंदवर्धन कहते हैं कि काव्य में व्यंग्यार्थ अनिवार्य रूप से अनुस्यूत होता है। इसके अभाव में काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती। इसके अभाव में कोई सार्थक कथन लोकवार्ता या शास्त्रकथन कहलाता है।

10.3.3 ध्वनि (काव्य) के भेद :

ध्वनि तत्त्व की विद्यमानता के आधार पर आनंदवर्धन ने काव्य के तीन भेद किए हैं :

□ ध्वनि काव्य, गुणीभूत काव्य और चित्रकाव्य। मम्मट के अनुसार यही क्रमशः उत्तम, मध्यम और अवर काव्य है। ध्वनि काव्य और गुणीभूत काव्य में ध्वनि स्फुट रूप से अनुस्यूट रहती है और चित्रकाव्य में अस्फुट रूप से ।

10.3.3.1 ध्वनिकाव्य :

जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ का चमत्कार अधिक हो, वहाँ ध्वनिकाव्य होता है।

☐ **गुणीभूत व्यंग्य काव्य** : जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ का चमत्कार गौण अथवा न्यून अथवा बराबर हो, वहाँ गुणीभूत व्यंग्यकाव्य होता है।

☐ चित्रकाव्य : जहाँ व्यंग्यार्थ स्फुट न हो, वहाँ चित्रकाव्य होता है। जहाँ गुणों की वर्ण व्यंजकता और अलंकारों का (शब्दगत एवं अर्थगत) चमत्कार इतना अधिक हो कि व्यंग्यार्थ स्फुट न हो सके, वह अस्फुट बन जाए, वहाँ चित्रकाव्य की स्थिति होती है।

10.4 ध्वनि के भेद

आनंदवर्धन कहते हैं कि ध्वनि सामान्यतः अविवक्षित वाच्य (लक्षणाभूत) और विवक्षितान्यपर वाच्य (अमिधा-मूल) भेद से दो प्रकार की होती है। उन्होंने अविवक्षित (लक्षणा-मूल) का उदाहरण प्रस्तुत किया है :

सुपर्णपुष्पां पृथ्वीं चिन्विन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ।।

अर्थात्– सुवर्ण जिसका पुण्य है ऐसी पृथ्वी का चयन (अर्थात– पृथ्वी रूप लता के सुवर्ण रूप पुष्पों का चयन) तीन ही पुरूष करते हैं : शूर, विद्वान और जो सेवा करना जानता है।

उन्होंने विवक्षितान्यपरवाच्य (अन्यपर का अर्थ है व्यंग्य अर्थ का सहायक) का एक उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानम सावकरोत्तपः।
सुमुखि येन तवाधारपाटलं, वशति बिम्बाफलं शुक शावकः। (पृ० 78-79)

अर्थात– हे सुमुखि, इस शुक काव्य ने किस पर्वत पर, कितने दिनों तक, कौन-सा तप किया है जिसके कारण तुम्हारे अधर के समान रक्त वर्ण बिंबफल को छाट रहा है। (पृष्ठ-78-79)

आनंदवर्धन ने अविवक्षित वाच्य ध्वनि के दो भेद किए हैं– अर्थांतरसंक्रमित वाच्य ध्वनि और अत्यंत तिरस्कृत वाच्यध्वनि। इन दोनों में व्यंग्यार्थ का ही विशेष उत्कर्ष होता है।

उन्होंने विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि (अमिधा-मूल) के दो भेद किए :

असंलक्षितवाच्य क्रम ध्वनि एवं संलक्षित क्रमवाच्य ध्वनि।

आनंदवर्धन के द्वारा प्रस्तुत ध्वनि के भेदों का मम्मट ने अपेक्षित विस्तार किया। उन्होंने ध्वनि के इक्यावन भेद माने जो परस्पर संयोजित होने से हजार की संख्या तक पहुँच जाते हैं। मम्मट द्वारा प्रस्तावित 51 भेदों में पाँच भेद ही प्रमुख हैं :

1. अर्थांतरसंक्रमित वाच्य ध्वनि
2. अत्यंततिस्कृत वाच्य ध्वनि
3. वस्तु ध्वनि
4. अलंकार ध्वनि
5. रस ध्वनि

अनेक विद्वानों के अनुसार ऊपर के दो भेद वस्तु ध्वनि में ही समायोजित हो जाते हैं। अतः ध्वनि के प्रमुख तीन भेद ही ठहरते हैं– वस्तुध्वनि, अलंकार ध्वनि और रस ध्वनि, लेकिन हम उपर्युक्त ध्वनि के पाँचों भेदों की समीक्षा करेंगे, क्योंकि पहले दो भेदों को अनेक विद्वानों ने वस्तुध्वनि में समायोजित कर देना ठीक नहीं समझा है।

10.4.1 अर्थांतरसंक्रमित वाच्य ध्वनि :

जब वाच्यार्थ अन्य (व्यंग्य) अर्थ में संक्रमित हो जाता है तब वहाँ यह ध्वनि होती है।

सेना छिन्न प्रयत्न भिन्न कर, पा मुराद मनचाही ।
कैसे पूजूँ गुमराही को, मैं हूँ एक सिपाही ।। (भारतीय आत्मा)

'सिपाही' शब्द का वाच्यार्थ योद्धा है, किंतु उपर्युक्त काव्यांश में यह वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ में संक्रमित हो गया है। 'सिपाही' शब्द की व्यंजना है– अपने प्राण को उत्सर्ग करनेवाला, देश पर मर मिटनेवाला, अपूर्व साहस से परिपूर्ण, राष्ट्रहित पर अपने हितों को न्योछावर कर देनेवाला आदि।

10.4.2 अत्यंततिस्कृत वाच्यध्वनि :

जहाँ व्यंग्यार्थ के द्योतन के लिए वाच्यार्थ अत्यंत तिरस्कृत हो जाता है, वहाँ अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि होती है। जैसे–

नीलोत्पल के बीच समाये मोती से आँसू के बूँद।
हृदय-सुधानिधि से निकले हो तब न तुम्हें पहचान सके ।। (जयशंकर प्रसाद)

'नीलोत्पल' शब्द का वाच्यार्थ 'कमल' है, पर व्यंग्यार्थ 'आँख' है। यहाँ वाच्यार्थ नितांत अभीष्ट नहीं है। नेत्र (आँख) के द्योतन के लिए वह अत्यंत तिरस्कृत हो गया है। रूपकातिशयोक्ति अलंकार में इस ध्वनि की स्थिति होती है।

10.4.3 वस्तु ध्वनि :

जहाँ व्यंग्यार्थ किसी वस्तु (भाव) के रूप में प्रतीत होता है, वहाँ वस्तु ध्वनि दोही है।

उदाहरण : "वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा-सी,
वह दीपशिखा-सी शांत, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन
दलित भारत की ही विधवा है। (निराला)

उपर्युक्त काव्यांश में, भारत की विधवा को 'पूजा', 'दीपशिखा', 'क्रूरकाल ताण्डव की स्मृतिरेखा' और 'छुटी लता' से उपमित किया गया है। 'पूजा' से विधवा की पवित्रता, 'दीपशिखा' से उसकी तेजस्विता, 'क्रूरकाल ताण्डव की स्मृतिरेखा' से इसकी दयनीयता और 'छुटी लता' से उसकी असहायावस्था का द्योतक हुआ है। अतः वस्तु ध्वनि है। 'वस्तु' का अर्थ 'भाव' है।

10.4.4 अलंकार ध्वनि :

अलंकार ध्वनि में व्यंग्यार्थ किसी अलंकार के रूप में प्रतीत होता है। बिहारी का एक प्रसिद्ध दोहा है :

दियो अरघ नीचे चलो संकट-मानै जाई।
सुचती ह्वै और सबै ससिहिं विलौकै आई ।।

इसमें नायिका के मुख पर चंद्रमा का आरोप वाच्य रूप में नहीं किया गया बल्कि व्यंग्य रूप में किया गया है।

मम्मट ने काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास 55, 56, 57 श्लोक में अलंकार ध्वनि का उदाहरण दिया है।

"तिग्मरुचिरप्रतापो विधुरनिशाकृद्विभो मधुरलीलः।
मतिमान तत्त्ववृत्तिः प्रतिपदपक्षाग्रणीविभाति भवान् ।। (काव्यप्रकाश 4/55)

अर्थात– हे स्वामिन ! आप दुष्टों पर कठोर हैं और सज्जनों से मनोहर प्रीति रखते हैं। आप शत्रुओं के घातक हैं। आपकी चेष्टाएँ मनभावनी हैं। आप बुद्धि और मान का यथोचित व्यवहार करते हैं तथा प्रत्येक स्थल पर आत्मपक्षवालों के नेता होकर सर्वत्र सुशोभित रहते हैं। (यहाँ पर मूल में 'तिग्मरुचि' (सूर्य) होकर भी अप्रताप (प्रतापरहित), बिधु (चंद्रमा) होकर भी अनिशाकृत (रात्रि न करनेवाले), विभु (दीप्तिहीन) होकर भी विभाति (विशेष चमकते हैं), मधु (वसंत) होकर भी अलीलः (क्रीड़ा-रहित), मतिमान् (बुद्धिमान्) होकर भी अतत्त्ववृत्ति (निरर्थक विचार करनेवाले), प्रतिपत् (प्रतिपदा तिथि) होकर भी अपक्षाग्रणीः (किसी पक्ष के प्रारंभ में न रहनेवाले) आदि एक-एक पद को दो-दो भिन्न पदों में तोड़ देने के कारण विरोधाभास नामक अलंकार व्यंग्य है। (काव्यप्रकाश, साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1943, पृ० 82-83)

10.4.5 रस ध्वनि :

रस ध्वनि में व्यंग्यार्थ विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग पर आधृत होता है।

पति परदेस से घर आया है। नायिका घूंघट के पट से दरवाजे की ओर किए अपने पति को निहार रही है। मतिराम ने इस दृश्य का बड़ा आकर्षक वर्णन किया है।

भीतर मौन के द्वार खरी, सुकुमारी तिया तन काम बिसेखै।
घूँघट को पट ओर दियै, पट-ओर किए पिय को मुँह पेखै ।।

इस चित्रण में रसध्वनि है। यहाँ शृंगार रस है। व्यंग्यार्थ है कि नायिका नायक पर अतिशय आसक्तत है। यहाँ नायिका आश्रय है और नायक आलंबन है। नायिका में काम के विशेष आवेग के कारण अनेक अनुभावों आगमन हो रहा है। लज्जा, हर्ष, चपलता आदि नायिका के संचारी भाव हैं।

आनंदवर्धन कहते हैं :

रसभावतदाभासत्यप्रशांत्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माऽङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः।। (ध्वन्यालोक 2/3)
रसदिरर्थो हि सहैव वाचयेनाव भासते।
स चाङ्गिलेनावभासमानो ध्वनेरात्मा ।।"

अर्थात्, रस, भाव, तदाभास (अर्थात् रसाभास और भावाभास) और भावशांति आदि (आदि शब्द से भावोदय, भावसंधि और भावशबलता का भी ग्रहण करना चाहिए) अक्रम (असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य) अंगीभाव से (अर्थात् प्राधान्येन) प्रतीत होता हुआ ध्वनि के आत्मा (स्वरूप) रूप से स्थित होता है। (भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा, पृ० 108)

10.4.6 समीक्षा :

आचार्य विश्वनाथ वस्तुध्वनि और अलंकार ध्वनि को महत्व नहीं देते, वे रसध्वनि को ही महत्व देते हैं। वे 'साहित्यदर्पण' में कहते हैं : 'काव्यात्मा ध्वनिः' काव्य की आत्मा ध्वनि है, यह जो ध्वनिकार ने कहा

है– वहाँ प्रश्न यह है कि क्या वस्तु, अलंकार और रसदिक इन सबकी ध्वनियों को आपकी आत्मा मानते हो ? या केवल रसादि की ध्वनि को ही? इनमें पहला पक्ष (वस्तु ध्वनि), अलंकार (ध्वनि) ठीक नहीं है, क्योंकि पहेली आदि में जहाँ वस्तु ध्वनित होती है– काव्य का लक्षण अतिव्याप्त हो जाएगा। अलक्ष्य में लक्षण के जाने से अतिव्याप्ति नामक लक्षण का दोष होता है। यदि दूसरा पक्ष मानों तो हमें स्वीकार है। रसादि ध्वनि को हम भी काव्यात्मा मानते हैं।'' (साहित्यदर्पण) भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा, पृ० 336) वास्तविकता यह है कि रसध्वनि को ही सारी ध्वनियों में श्रेष्ठता प्राप्त है।

विश्वनाथ कहते हैं कि ध्वनिकार (आनंदवर्धन) ने यह कहा है कि ''सहृदयों से श्लाध्य जो अर्थ काव्य का आत्मा व्यवस्थापित किया है, उसके दो भेद हैं– एक वाच्य और दूसरा प्रतीयमान।''– इस कविता में वाच्यार्थ को काव्य की आत्मा बतलाना उनके 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इस अपने कथने से ही विसुद्ध होने के कारण निरस्त समझना चाहिए।'' (भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा, पृ० 339)

10.4.7 रसादि एवं रसध्वनि :

काव्यशास्त्र में रस से तात्पर्य हैं– रसादि अर्थात रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसंधि, भावशबलता तथा भावशांति। ध्वनिकार के अनुसार ये सारे ध्वनि (व्यंग्यार्थ) पर ही आश्रित होत हैं, न कि वाच्यार्थ पर। आगे हम इन पर क्रमशः प्रकाश डालेंगे।

10.4.7.1 रस– विभाव अनुभाव, संचारी के संयोग से रस की निष्पति होती है। इसकी चर्चा पहले हो चुकी है।

10.4.7.2 भाव– भाव की प्रतिष्ठा तीन स्थितियों में होती है : 1. जहाँ ग्लानि, शंका, निर्वेद आदि संचारी भाव प्रधानता से प्रतीयमान हों (यानी, व्यंजित हों) 2. देवता, राजा, गुरुजन, गुरु, राष्ट्र आदि के प्रति रति प्रधानता से प्रतीयमान (व्यंजित हो) तथा 3. जहाँ विभावादि के समुचित निर्वाह से अभाव में स्थायी भाव (रति, हास, उत्साह, भय आदि) केवल उद्‌बुद्ध होकर रह गए हों।

विश्वनाथ भाव का उदाहरण देते हुए साहित्यदर्पण में लिखते हैं :

यस्यालीयत शल्कसीम्नि जलधिः, पृष्ठे जगन्मंडलं,
दंष्ट्रायां धरणी, नखे दिति सुताधीशः, पदे रोदसी।
क्रोधे क्षत्राणः, शरे दशमुखः, पाणौ प्रलंबासुरो,
ध्याने विश्वमसावधार्भिककुलं कस्मैचिदस्मै नमः ॥

अर्थात– जिसके सिन्ने (मछली का पर) के एक किनारे में सारा समुद्र समा गया (महलत्स्यावतार), जिसकी पीठपर अखण्ड ब्रह्मांड आ गया (कूर्म), जिसकी दाढ़ में पृथ्वी छिप गई (बराह), नख में हिरण्य–कशिपु लिपट रहा (नृहसिंह), जिसके पैर में पृथ्वी और आकाश समा गए (वामन) जिसके क्रोध में क्षत्रिय जाति विलीन हो गई (परशुराम) जिसके बाण से दशानन का (रामावतार), हाथ में प्रलंबासुर (कृष्णावतार), ध्यान में जगत का (बुद्ध) और खड्‌ग में अधर्मी लोगों का लय हुआ (निष्कलंक) उस अलौकि तेज को मेरा नमस्कार है। यहाँ भगवद् विषयक रति भाव व्यंग्य है। यहाँ रतिभाव अशुद्ध होकर रह गया, वह रस में परिणत नहीं हुआ है।

10.4.7.3 रसाभास एवं भावाभास– जहाँ रस या भाव की व्यंजना में कोई अनौचित्य झलकने लगे, वहाँ रसाभास और भावाभास होता है। स्थायिभाव की अनौचित्यपूर्ण अभिव्यक्ति में रसाभास और संचारिभाव की अनौचित्यपूर्ण अभिव्यक्ति में भावाभास होता है।

अनौचित्य के बिंदु : 1. नायिका का अपने पति के अलावा दूसरे पुरुष या पुरुषों के प्रति अनुरक्ति 2. एक नर का बहु नारी विषयक प्रेम 3. नायक-नायिका में उभयनिष्ठ प्रेम का न होना, 4. श्रेष्ठ का नीच के प्रति और नीच का श्रेष्ठ के प्रति प्रेम, तथा 5. पशु-पक्षी का संयोग वर्णन आदि।

राजन, आपकी सेना के योद्धागण।
शत्रुओं की मृगनयनियों का करते हैं
आलिंगन ।
उनके पतियों की आँखों के सामने ही
आपके बैरी भी
यह कहकर
करते हैं आपकी स्तुति
राजन ! आपकी नैतिकता
वरेण्य है।
(काव्यप्रकाश पंचम उल्लास, 19 श्लोक का अनुवाद– लेखक)

प्रस्तुत उदाहरण में पूर्वार्द्ध में (शत्रुओं की रमणियों के साथ राजा के योद्धागण के द्वारा काम चेष्टा का वर्णन शृंगाराभास है (रसाभास) और उत्तरार्द्ध में शत्रुओं द्वारा राजा की स्तुति में भावाभास है। राजा के प्रति शत्रुओं का रति (भक्ति) भाव अनौचित्य पूर्ण है। अतः यह भावाभास है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ रसाभास का एक उदाहरण इस प्रकार देते हैं : "कामातुर भ्रमर, अपनी प्रिया का अनुगमन करता हुआ पुष्प-रूप एक पात्र में मधु का पान करने लगा और स्पर्श सुख से निमीलित नयना मृगी को उसका प्रेमी कृष्णसार मृग, सींग से धीरे-धी खुजाने लगे। यहाँ शृंगाराभास है। अनौचित्य से प्रवृत्त और पशु-पक्षी-विषयक शृंगार को शृंगारभास कहते हैं। (भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा, पृ० 340)

10.4.8 भावोदय, भावसंधि और भावशबलता :

जहाँ एक भाव का उदय हो वहाँ 'भावोदय', जहाँ दो भावों का उदय हो वहाँ 'भावसंधि' तथा जहाँ से दो से अधिक भावों का उदय हो वहाँ भावशबलता मानी जाती है। 'उदय' का अर्थ वर्णन होता है। 'भावोदय' का उदाहरण–

राजन ! आपका प्रबल शत्रु,
अपने अंतरंग मित्रों के साथ
प्रवृत्त होना चाहता था
मृगलोचनी के संग
मद्यपान की क्रीड़ा में
कि अचानक आपका नाम सुन
उसकी दशा विलक्षण सी हो गई।
(काव्यप्रकाश, पंचम उल्लास, 121; अनुवाद लेखक)

यहाँ पर त्रास नामक 'भाव' का उदय हुआ है। [यह त्रास राजविषयक भक्तिभाव का अंग है।]

'भावसंधि' का उदाहरण–

"असोढा तत्काल्लोल सदसदभावस्य तपसः
कथानां विश्रम्भेष्वथ च रसिकः शैलदुहितुः ।।
प्रमोदं वा दिश्यात्कपटल्टुवेषापनपने
त्वदाशैपिस्याम्यां युगपदभियुक्तः स्मरहरः ।। 122।। (काव्य प्रकाश पंचम उल्लास)

अर्थात– "ब्रह्मचारी का वेश धारण करनेवाले महादेव जी का एक ओर तो पार्वती जी के बाल्यकाल में प्रकट होने वाले तपस्या के दुःसह भाव की अवस्था को नहीं सह सकते थे और दूसरी ओर पार्वती जी की विश्वासयुक्त बातचीत भी उन्हें अत्यंत रोचक लगती थी। अतएव छल से धारण किए हुए ब्रह्मचारी वेश के परित्याग करने में एक साथ ही शिथिलता और शिथिलता से युक्त वे (महादेव जी) तुम लोगों को महानंद प्रदान करें।" (काव्यप्रकाश, पंचम उल्लास, पृ० 130-31) यहाँ आवेग और धैर्यरूप भावों की संधि है। [यह संधि शिव विषयक रति भाव की अंगीभूता है।]

'भावशबलता' का उदाहरण– काव्यप्रकाश में मम्मट भावशबलता का एक उदाहरण देते हैं :

"हे पृथ्वीनाथ! आपके वन में निवास करनेवाले शत्रु की कुमारी कन्या फल और नए पत्ते चुनते समय किसी कामुक को देख इस प्रकार कहती है : "अरे ! कहीं कोई हम लोगों को कोई देख न ले! हे चपल! तू यहाँ से भाग जा। अरे इतनी शीघ्रता क्यों! मैं तो अभी कुमारी हूँ और मुझे अपने हाथ का सहारा तो दे। हाथ! ऐसा धरना अनुचित है! अरे ! तू कहाँ है ? क्या चला ही जाता है?" (काव्यप्रकाश, पंचम उल्लास, 123)

यहाँ क्रम से शंका, असूया, धैर्य, स्मरण, श्रम, दीनता, विबोध और औसुक्य आदि संचारी भावों का मिश्रण (शवलख, शबलता) राजविषयक भक्ति भाव का अंग बन कर आया है।

□ **'भावशांति'** : 'भावशांति' में एक भाव उदित होकर शांत हो जाता है और फिर दूसरा भाव उदित होता है।

तुम आते मेरे आंगन प्रिय
देख लेती तुम्हें मनभर
तृप्त होता रोम-रोम, पुलकित गात
हृत् तारों में बस जाते, सुर मधुर बन
युगों का गीत बनता, एक मधुर मेरा प्रहर!
तुम आते मेरे आँगन प्रिय
देख लेती तुम्हें मन भर! (माधवी परिमल)

'माधवी परिमल' के उपर्युक्त गीत में अभिलाषा उदित होकर शांत हो जाती है, अतः यहाँ 'भावशांति' है ।

ऊपर कहा जा चुका है कि रसादि को ध्वनि (व्यंगार्थ) पर आश्रित माना गया है, वाच्यार्थ पर नहीं। यही कारण है कि आनंदवर्धन ने रसादि (रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसंधि, भावशबलता और भावशांति) को ध्वनि का ही एक भेद माना है।

□ रसादि ध्वनि को 'असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य' ध्वनि भी कहते हैं, क्योंकि इसमें वाच्यार्थ के पश्चात् व्यंग्यार्थ की प्रतीति इतनी शीघ्रता के साथ होती है कि यह क्रम लक्षित ही नहीं होता।

10.4.9 गुणीभूत व्यंग्य :

'गुणीभूत' (विशेषण) का अर्थ होता है– गौण बनाया हुआ। 'गुणीभूत व्यंग्य' काव्य का वह भेद है जिसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के अधिक चमत्कार वाला न हो अथवा जहाँ व्यंग्यार्थ वाचार्थ की अपेक्षा गौण अप्रधान या न्यून या समानरूप से चमत्कारवाला हो। इसके आठ भेद बताए गए हैं :

1. अगूढ़ व्यंग्य
2. अपरांगव्यंग्य
3. वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य
4. अस्फुट-व्यंग्य
5. संदिग्ध-प्राधान्य-व्यंग्य
6. तुल्य-प्राधान्य-व्यंग्य
7. काक्वाक्षिप्त-व्यंग्य
8. असुंदर-व्यंग्य

मम्मट 'काव्यप्रकाश' (पंचम उल्लास) में कहते हैं: ''जहाँ पर रसादिक स्वयं अंगी (प्रधान) बनकर चमत्कार उत्पन्न करें, वहाँ पर 'ध्वनिकाव्य' होता है और वहाँ पर वे केवल अंगीभूत (अप्रधान) बनकर विशेष चमत्कार उत्पन्न करें, वहाँ पर गुणीभूत व्यंग्य या मध्यकाव्य होता है।'' मम्मट के अनुसार जहाँ 'रसगुणीतमूत हो, वहाँ 'रसवत्' अलंकार जहाँ भाव गुणीभूत हो वहाँ 'प्रेयस' अलंकार, जहाँ 'रसाभास', और 'भावाभास' गुणीभूत हों वहाँ 'अर्जस्वित' अलंकार और जहाँ 'भावशांति' गुणीभूत हो, वहाँ 'समाहित' अलंकार होता है।

आनंदवर्धन कहते हैं :

प्रकारोऽन्यो गुणीभूत व्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यंग्यान्वये वाच्य चारुत्वं स्मात् प्रकर्षवत।। (ध्वन्यलोक, ।। 3/35 ।।)

अर्थात्, जहाँ व्यंग्य के संबंध होने पर वाच्य का चारुत्व अधिक प्रकर्षयुक्त हो जाता है, वह 'गुणीभूत व्यंग्य' नाम का काव्य का दूसरा भेद होता है।'' 'ध्वनि' तथा 'गुणीभूतव्यंग्य' के उदाहरण प्रायः मिले-जुले रहते हैं, किंतु अप्रधानता की दृष्टि से ही दोनों में अंतर कर लिया जाता है– जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है, वहाँ 'ध्वनि' और जहाँ अप्रधानता होती है, वहाँ 'गुणीभूत व्यंग्य' होता है। व्यंग्यार्थ अगूढ़, अपरांग, वाच्य सिद्ध्यंग, अस्फुट, संदिग्धप्रधान, तुल्यप्रधान, काक्वाक्षिप्त तथा असुंदर होने के कारण (अप्रधान) हो जाता है। (उदयशंकर शास्त्री)

10.4.9.1 अगूढ़ व्यंग्य : जहाँ व्यंग्यार्थ गूढ़ नहीं होता, अपितु एकदम स्पष्ट होता है, वहाँ 'अगूढ़ व्यंग्य' होता है।

पुत्रवती युवती जगसोई। रामभगत जाकर सुत होई। (तुलसी) इस चौपाई के अंश का वाच्यार्थ स्पष्ट है। व्यंग्यार्थ है कि जिनके पुत्र राम के भक्त हैं, केवल वे ही माताएँ प्रशंसा की पात्रा हैं, दूसरी नहीं। यहाँ, व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के समान ही अगूढ़ यानी स्पष्ट है। अतः यहाँ अगूढ़-व्यंग्य (अगूढ़ गुणीभूत व्यंग्य) है। ध्वनि (व्यंग्य) वाच्यार्थ की अपेक्षा गूढ़ होनी चाहिए। जहाँ [ध्वनि (व्यंग्य) वाच्यार्थ से गूढ़ न हो, वहाँ अगूढ़-व्यंग्य' होता है। ध्वनिकार ने यह स्पष्ट घोषणा की है कि ''विद्वानों को यह समझ होना चाहिए कि यह (व्यंग्य और केवल व्यंग्य-स्पर्श ही काव्य का चरम रहस्य है।)''

''सर्वथा नास्त्येव सहृदय हृदयहारिणः काव्यस्य प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम् (तदिदं काव्यरहस्यं परिमिति सूरिभिविभावनीयम्।'' (ध्वन्यालोक, 3-37) आनंदवर्धन आगे कहते हैं कि अलंकार आदि से युक्त होने पर भी जैसे लज्जा ही कुलवधुओं का मुख्य अलंकार होती है, उसी प्रकार, उपमादि अलंकारों से भूषित होने पर भी यह व्यंग्यार्थ की छाया ही महाकवियों की वाणी का महा अलंकार होती है। (3.38)]

10.4.9.2 अपरांग-व्यंग्य : यदि रस, स्थायीभाव, अनुभाव संचारीभाव आदि से कोई एक किसी दूसरे का अंग बनकर उसका उत्कर्ष करे और जिसका अंग बने उस अंगों की अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण हो।

रस का अंग बनने पर 'रसवत् अलंकार' भाव का अंग बनने पर 'प्रेमस्वत् अलंकार', रसाभास और भावाभास का अंग बनने से 'उर्जस्वित' अलंकार, भावशांति का अंग बनने पर समाहित अलंकार तथा भावोदय, भारसंधि और भावशब्दता का अंग बनने पर क्रमशः 'भावोदय', 'भावसंधि' और 'भावशबलता' अलंकार होता है। अपने अंगीभूतों को अलंकृत करने के कारण ही इन्हें अलंकार कहते हैं।

10.4.9.3 अपरांग-व्यंग्य का उदाहरण :

सपनों के संसार यह, रहस न जाने कोय।
मिलि पिय मनमानी करौ, काल कहाँ धौं होय।

इस अदाहरण में शांतरस पोषक है और शृंगार रस अंगी (मित्रिदिय मनमानी करौ) है। लेकिनशृंगार रस के अंगी होने के बावजूद शांत रस (अंग)शृंगार रस से अधिक चमत्कारपूर्ण है।

वाच्यसिद्ध्यंग : जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए अंग बन जरा, वहाँ 'काव्यसिद्ध्यांग' होता है।

मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में इसका एक उर्दाहरण इस प्रकार दिया गया है : (अनुवाद)

''अच्युत, अब मैं जा रही इस विजन वन से
अन्यथा, लोग न जाने क्या कहेंगे,
चित्त न होता संतुष्ट उसके दर्शनों से।''

कृष्ण ने तब समझ इसके प्रेमरस से सिक्त समर्थन तृप्त किया उस गोपिका को, (माधवी परिमल) यहाँ 'अच्युत' (अस्खलित) आदि पद का व्यंग्यार्थ अर्थ 'समर्थन' आदि पद के वाच्य अर्थ की सिद्धि का कारण है।

10.4.9.4 अस्फुट व्यंग्य : जहाँ व्यंग्य शीघ्र समझ में न आए वहाँ 'अस्फुट व्यंग्य' होता है।

बिन देखे मन तड़पत, देखे भय वियोग का दाहे,
दोनों में दुःख उपजे, मिलन-वियोग हो चाहे। (माधवी परिमल)

इसके वाच्यार्थ से अलग व्यंग्यार्थ तुरत समझ में नहीं आता। बड़ी कठिनाई से इसका व्यंग्यार्थ बोधगम्य होता है। व्यंग्य है– हे प्रिय, आप ऐसा कीजिए जिससे आप अदृष्ट भी न हों और ऐसा करें जिससे आपके वियोग का दुःख भी न हो।

10.4.9.5 संदिग्ध-प्राधान्य-व्यंग्य : जहाँ पर प्रधान अर्थ संदेहविशिष्ट हो, अर्थात वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में किसकी विशिष्टता है, इसमें संदेह बना रहे।

बिंबाफल सम अरुण अधर, गिरिजा के पावन /
चंद्र उदय के प्रारंभ काल में /
जलधि चित्त ज्यों बने विचंचाल /
शांतकाल में उठे लहर ज्यों।
महादेव के नयन सुभग उस ओर हुए।
(माधवी परिमल ; काव्यप्रकाश, पंचम उल्ला 29 का अनुवाद)

यहाँ पर महादेवजी ने गिरिजा के मुख को चूमना चाहा, ऐसा व्यंग्य अर्थ वांछित है, या केवल आँखों से गिरिजा को देखना रूप वाच्य अर्थ ही प्रधानतया इष्ट है, यह बात संदिग्ध है।

10.4.9.6 तुल्य-प्राधान्य-व्यंग्य : जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का चमत्कार एक समान हो।

हे राक्षसराज, त्यागकर ब्राह्मणों का उत्पीड़न /
खोज सकते हैं विकास के अनेक द्वार /
मैं परशुराम आपका मित्र बनूँगा उसी हाल में /
नहीं तो कोप मुझे भी आता है करना।
(काव्यप्रकाश, 130(5) का अनुवाद–'माधवी परिमल')

यहाँ पर जो व्यंग्य अर्थ है कि परशुराम क्षणभर में सब क्षत्रियों की भाँति राक्षसों का भी संहार कर डालेंगे यह वाच्यार्थ के ही समान मुख्यार्थवला प्रतीत होता है, अर्थात दोनों प्रकार के अर्थों की प्रधानता एक समान है।

10.4.9.7 काव्याक्षिप्त-व्यंग्य : जहाँ व्यंग्यार्थ काकु द्वारा (भिन्न कंठ ध्वनि से। आक्षिप्त (स्वतः गृहीत) हो, वहाँ यह व्यंग्य होता है।

"क्या मैं वध नहीं कर पाऊँगा उस खल का ?" यहाँ पर "मैं अवश्य ही उस का वध कर डालूँगा"– यह व्यंग्यार्थ निषेध रूप वाच्य अर्थ के साथ ही प्रकाशित हो रहा है। इस भिन्न कंठ ध्वनि (निषेध के साथ) व्यंग्य स्वतः गृहीत हो रहा है।

10.4.9.8 असुंदर-व्यंग्य : जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ सुंदर न हो।

बेत के छने कुंज से /
उड़ते खेचर के कलख /
सुनते ही /
गृह-कार्य-जाल में फँसी /
प्रेमिका के अंग-अंग /
हुए अति विकल दाहपूर्ण। (माधवी परिमल, काव्यप्रकाश, 132 का अनुवाद)

यहाँ पर संकेत किए गए किसी उपनायक ने घने लताकुंज में प्रवेश किया– ऐसे व्यंग्य अर्थ की अपेक्षा प्रेमिका के अंग-अंग में दाहक व्याकुलता हो गई– ऐसा वाच्यार्थ ही विशेष चमत्कारपूर्ण प्रतीत हो रहा है।

10.5 चित्रकाव्य

शब्दालंकार, अर्थालंकार, गुणों की वर्ण व्यंजना के कारण जहाँ व्यंग्यार्थ स्फुट न हो सके। अर्थात्

उपर्युक्त तीनों में से किसी एक के अतिशय चमत्कार के कारण जहाँ व्यंग्य आदिमूर्त न हो सके, वहाँ चित्रकाव्य होता है।

"उदित उदय गिरि मंच पर, रघुवर बालपतंग।
विगसे संत सरोज सब, हरषै लोचन भृंग।" (रामचरितमानस)

इसमें रूप अलंकार के अतिशय चमत्कार के कारण राम का सौंदर्य वर्णन, व्यंग्य अस्फुट रह गया है। अत: यहाँ चित्रकाव्य है।

10.6 सारांश

इस प्रकार आनंदवर्धन ने अलंकार, रीति और रस के स्थान पर ध्वनि तत्त्व को अधिक महत्त्व दिया। उनके अनुसार ध्वनि ही काव्य का आंतरिक तत्त्व है, यानी ध्वनि ही काव्य की आत्मा है।

–प्रो० (डॉ०) गणेश प्रसाद

10.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. ध्वनि के सिद्धांत के प्रवर्त्तक कौन हैं ?
   (क) क्षेमेंद्र (ख) वामन (ग) कुतंक (घ) आनंदवर्धन
2. ध्वनि-परवर्ती सिद्धांत कौन-सा है?
   (क) रस (ख) वक्रोक्ति (ग) अलंकार (घ) रीति
3. ध्वनि सिद्धांत के व्याख्याकार कौन हैं ?
   (क) मम्मट (ख) रुद्रट (ग) अभिनवगुप्त (घ) हेमचंद्र
4. ध्वनि के तारतम्य के आधार पर काव्य के कितने भेद हैं ?
   (क) तीन (ख) दो (ग) चार (घ) नौ

10.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

□ लघुउत्तरीय प्रश्न :

1. रसाभास और भावाभास पर टिप्पणी लिखें।
2. 'भावोदय' क्या है ? एक उदाहरण देकर इसे स्पष्ट करें।
3. चित्रकाव्य की सोदाहरण परिभाषा दें।
4. 'भवशांति' और 'भवशबलता' पर टिप्पणी लिखें।

□ दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

1. ध्वनि-सिद्धांत की प्रमुख स्थापनाओं पर विचार करें।
2. ध्वनि सिद्धांत में किस ध्वनि को अत्यधिक महत्व दिया गया है? सोदाहरण विवेचना करें।
3. रस और ध्वनिं का अंतर स्पष्ट करें।

10.9 सहायक ग्रंथ

1. भारतीय काव्य परक की भूमिका – डॉ० नगेंद्र
2. भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ० सत्यदेव चौधरी
3. हिंदी साहित्य कोश, भाग-1

◆◆◆

वक्रोक्ति सामान्य परिचय

पाठ-संरचना

11.1 उद्देश्य

11.2 परिचय

11.3 विस्तार

- 11.3.1 वक्रोक्ति के भेद
- 11.3.2 वर्ण विन्यास वक्रता
- 11.3.3 पद-पूर्वार्द्ध वक्रता
- 11.3.4 रूढ़िवैचित्र्य वक्रता
- 11.3.5 पर्याय वक्रता
- 11.3.6 उपचार वक्रता
- 11.3.7 विशेषण वक्रता
- 11.3.8 संवृत्ति वक्रता
- 11.3.9 वृत्ति-वैचित्र्य वक्रता
- 11.3.10 लिंग-वैचित्र्य वक्रता
- 11.3.11 क्रिया-वैचित्र्य वक्रता

11.4. पदपरार्ध-वक्रता

- 11.4.1 वाक्य वक्रता

11.5 प्रकरण-वक्रता

- 11.5.1 पात्र-प्रकृति-वक्रता
- 11.5.2 उत्पाद्यलावण्य
- 11.5.3. प्रमुख तथा प्रासंगिक कथाओं में उपकार्योपकारक भाव
- 11.5.4. आवृत्ति वक्रता
- 11.5.5. प्रकरण-रस-वक्रता
- 11.5.6. गौण किंतु
- 11.5.7. गर्भांक

11.6. सारांश

11.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

11.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

11.9 सहायक ग्रंथ

11.1 उद्देश्य

वक्रोक्ति एक महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय सिद्धांत है। प्रस्तुत पाठ में इस सिद्धांत के स्वरूप की समीक्षा की जाएगी तथा इसके विभिन्न पक्षों पर विस्तार से विचार किया जाएगा।

11.2 परिचय

वक्रोक्ति सिद्धांत के प्रवर्त्तक कुंतक माने जाते हैं। कुंतक के पूर्व (10वीं शताब्दी के अंत से 11वीं शताब्दी के आरंभ तक) काव्यशास्त्र में 'वक्रोक्ति' शब्द का व्यापक और संकुचित, दोनों रूपों में प्रयोग हुआ है। बाणभट्ट ने 'कादंबरी' में राजशूद्रक को 'वक्रोक्ति-निपुण' कहा है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि बाणभट्ट (छठी शताब्दी) 'वक्रोक्ति' के विभिन्न तत्त्वों से परिचित थे। कविराज ने (11वीं शताब्दी) अपने ग्रंथ 'राघव-पाण्डवीयम्' में बाणभट्ट को 'वक्रोक्तिमार्ग-निपुण' कहा है। वे बाणभट्ट के साथ सुबंधु एवं अपने को भी 'वक्रोक्तिमार्ग-निपुण' घोषित करते हैं।

''सुबंधुबाणभट्टरस कविराज इति त्रयः।
बक्रोक्तिमार्ग निपुणाश्चतुर्थौ विद्यते न वा ।।''

इससे पता चलता है कि काव्यशास्त्रीय सिद्धांत के रूप में कुंतक द्वारा स्थापित किए जाने के पूर्व 'वक्रोक्ति' का प्रयोग व्यापक तथा संकुचित रूप में छठी शताब्दी से ही होता रहा है। बाणभट्ट जब 'हर्षचरितम्' में कहते हैं :

''नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषो क्लिष्टः स्फाटां रसः।
विकटाक्षरबंधाश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्''– तब ऐसा प्रतीत होता है कि वे 'वक्रोक्ति' के स्वरूप को पूर्णतः परिभाषित कर रहे हैं। कुंतक के पूर्व भामह दण्डी आदि काव्यशास्त्री 'वक्रोक्ति' को एक अलंकार के रूप में विवेचित करते हैं। वामन, रूद्रट तथा आनंदवर्धन भी 'वक्रोक्ति' को अलंकार के रूप में स्वीकृत करते हैं। कुंतक के समकालीन भोराज ('सरस्वतीकंठाभरण') ने 'वक्रोक्ति' को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है तथा मम्मट ने संकुचित अर्थ में। भामह 'वक्रोक्ति' को 'अतिशयोक्ति' की पर्याय मानतेहैं ओर इसे सारे अलंकारों की अनिवार्य तत्त्व सिद्ध करते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि सारे अलंकारों में 'वक्रोक्ति' (अतिशयोक्ति) का होना अनिवार्य है, क्योंकि इसी से कथन में चमत्कृति आती है। भामट के अनुसार 'वक्रोक्ति' (अतिशयोक्ति) के अभाव में कथन 'वार्ता' हो जाता है।

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविता कार्यः कोऽलंकारोऽनया बिना ।। (काव्यालंकार, 2.85)

'काव्यादर्श' में दंडी स्वभावोक्ति को छोड़कर उपमादि शेष अलंकारों को 'वक्रोक्ति' का पर्याय मानते हैं। उनके अनुसार स्वभावोक्ति को छोड़कर शेष अर्थालंकार 'वक्रोक्ति' के ही पर्याय हैं। उपमादि सारे अलंकारों की स्थिति 'वक्रोक्ति' से ही है; वक्रोक्ति के अभाव में इन अलंकारों की कल्पना ही नहीं की जा सकती। वामन वक्रोक्ति को एक अर्थलंकार मानते हैं। वे काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में कहते हैं : 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः', अर्थात्–सादृश्य पर आधृत गौणी लक्षणा की 'वक्रोक्ति' अलंकार है। रूद्रट 'वक्रोक्ति' को शब्दालंकार तथा आनंदवर्धन इसे अर्थालंकार स्वीकार करते हैं। यदि मम्मट, विश्वनाथ इसे (वक्रोक्ति को) शब्दालंकार मानते हैं तो रूय्यक, विद्यानाथ और अप्पदीक्षित अर्थालंकार। आचार्य भोजराज 'वक्रोक्ति' शब्द

का प्रयोग 'वक्रवचन' के रूप में करते हैं और इस प्रकार वे इसे व्यापक सत्ता प्रदान करते हैं। वे समस्त वाङ्मय को तीन वर्गों में विभाजित करते हैं–वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति।

मम्मट 'वक्रोक्ति' को शब्दालंकार मानते हुए इसकी परिभाषा इस प्रकार देते हैं :

यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा।।

(काव्यप्रकाश, नवम उल्लास, सू० 103, 78)

अर्थात्, "जहाँ वक्ता के किसी अन्य तात्पर्य से कहे गए वाक्य को सुननेवाला श्लेष अथवा काकुरूप ध्वनिविकार द्वारा किसी अन्य अभिप्राय में जोड़ दे तो वह वक्रोक्ति नामक शब्दालंकार श्लेष और काकु के भेद से दो प्रकार का होता है।"

कुंतक ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'वक्रोक्तिजीवितम्' में 'वक्रोक्ति' का व्यापक अर्थ ग्रहण करते हुए इसका लक्षण तथा स्वरूप प्रस्तुत किया है।

11.3 विस्तार

कुंतक 'वक्रोक्ति' को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हैं। 'वक्रोक्ति' का स्वरूप-निरूपण करते हुए कुंतक कहते हैं।

- विचित्र वर्णन-शैली ही 'वक्रोक्ति' है।
- यह प्रसिद्ध कथन से भिन्न प्रकार की विचित्र वर्णन शैली है।
- वैदग्ध्य-भंगी-भणिति' ही वक्रोक्ति है।

अर्थात्– कविकर्म- कौशल से उत्पन्न विचित्रता से पूर्ण विदग्ध कथन ही वक्रोक्ति है।

- उपर्युक्त विंदुओं को एक साथ समेटते हुए हम कुंतक के अनुसार 'वक्रोक्ति' को इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं :

किसी कथन में लोकोत्तर चमत्कार या अपूर्व काव्य-सौंदर्य उत्पन्न करनेवाले तत्त्व को ही 'वक्रोक्ति' कहते हैं। यह है :

'प्रसिद्ध अभिधान व्यतिरेकिणी'
'विचित्र अभिधा'
'वैदग्ध्य भणितिः'

- 'वैदग्ध्य' विदग्ध भाव होता है। 'विदग्ध भाव' का अर्थ है– काव्य-निर्माण का कौशल।

["वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिद्या। कीदृशी, वैदग्ध्यभंगीभणितिः। वैदग्ध्यं विदग्धभावः, कविकर्म कौशलं, तस्य भंगीविच्छित्तिः, यथा भणितिः। विचित्रैवाभिद्या वक्रोक्ति रित्युच्यते।"– वक्रोक्तिजीवित', पृ० 51; आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, 1955]

11.3.1 वक्रोक्ति के भेद

कुंतक के अनुसार कवियों के व्यापार की वक्रता मुख्य रूप से छह प्रकार की होती है :

(i) वर्ण विन्यास वक्रता
(ii) पदपूर्वार्द्ध वक्रता
(iii) पदपरार्द्ध वक्रता
(iv) वाक्यवक्रता
(v) प्रकरण वक्रता
(vi) प्रबंधवक्रता

कुंतक कहते हैं कि उपर्युक्त छह भेदों में प्रत्येक भेद के वैचित्य से शोभित होनेवाले अनेक भेद हो सकते हैं। यहाँ संक्षेप में प्रमुख भेदों की चर्चा की जाएगी।

11.3.2 वर्ण विन्यास वक्रता :

रचना में वर्णों को (अक्षरों को) विशेष प्रकार से रखना 'वर्णविन्यासवक्रता' कहलाता है। रचना का वर्ण-विन्यास सामान्य कथन के वर्ण-विन्यास से अलग और विशिष्ट होता है। रचना के वर्ण विन्यास में एक प्रकार का वक्रत्व (बाँकपन) होता है। सन्निवेश विशेषत्व से (वर्ण की विशिष्ट योजना से) रचना सहृदय आह्लादकारी और शोभा से पूर्ण होती है। सभी शब्दालंकारों में, विशेष रूप से अनुप्रास तथा यमक में (तथा इनके भेदों में) 'वर्ण विन्यासवक्रता' ही होती है।

कवि की कोमलकांत पदावली
झंकृत करती मन के सोए तारों को।
अलसाई आँखों की सहज अरुणिमा ज्यों
सहलाती-दुलारती प्रिय के अतिशय प्यारों को।

('क', 'अ' वर्ण की आवृत्ति; माधवी परिमल')

कुंतक वर्णविन्यासवक्रता के संदर्भ में कुछ प्रतिबंधों की चर्चा करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि इनका ध्यान 'रचनात्मकता' पर है, जिसके लिए वे 'वक्रोक्ति' को अनिवार्य मानते हैं। उनके अनुसार वर्णों की आवृत्ति में सोद्देश्यता और विवेकशीलता अवश्य होनी चाहिए, अन्यथा रचना में 'वार्ता' का-सा उथलापन आ जाता है और आह्लादक चमत्कार की सृष्टि नहीं हो पाती। इनके अनुसार :

- वर्णविन्यास वक्रता विषय के अनुकूल होनी चाहिए।
- इसमें आग्रह और आभास नहीं होना चाहिए।
- इसमें सुंदर वर्णों का समावेश होना चाहिए।
- इसमें अपूर्णता और विचित्रता होनी चाहिए।
- इसमें पुनरावृत्ति नहीं होनी चाहिए।
- इसमें प्रसाद गुण की समाविष्टि होनी चाहिए।
- इसमें श्रुतिमाधुर्य होना चाहिए।

11.3.3 पद-पूर्वार्द्ध वक्रता :

यह वक्रता पद के पूर्वार्द्ध यानी, प्रकृति या प्रतिपदिक पर आधृत होती है। कुंतक ने इसके आठ भेद बताए :

(i) रूढ़िवैचित्र्यवक्रता (ii) पर्यायवक्रता (iii) उपचार वक्रता
(iv) विशेषण वक्रता (v) संवृतिवक्रता (vi) वृत्तिवक्रता
(vii) लिंगवैचित्र्य वक्रता (viii) क्रियावैचित्र्यवक्रता

11.3.4 रूढ़िवैचित्र्य वक्रता :

जहाँ रूढ़ि शब्द का ही प्रकरण के अनुरूप, वाच्यरूप से प्रसिद्ध धर्म के अध्यारोप को लेकर प्रयोग किया जाए, वहाँ 'पद-पूर्वाद्ध वक्रता' होती है।

मेरा राम रमा है मुझ में,
मैं चाहे मणि हूँ या काँच। (गुरुकुल, मै०श०गु०)

'राम' शब्द का रूढ़ार्थ दशरथ-पुत्र राम है, पर यहाँ 'राम' का रूढ़ि से विचित्र अर्थ है– भक्तों का रक्षक, कृपालु, दीनों पर दया-दृष्टि रखनेवाला।

11.3.5 पर्याय वक्रता :

यह वक्रता किसी विशेष समानार्थक शब्द पर आधृत होती है। इसमें वस्तु का अनेक शब्दों से कथन संभव होने पर भी प्रकरण के अनुरूप होने से कोई विशेष पद ही प्रयुक्त किया जाता है।

''यत्रानेक शब्दाऽभिधेयत्वे वस्तुनः किमपि पर्यायपदं प्रस्तुतानु गुणत्वेन प्रयुज्यते।'' (कुंतक)

अमी हलाहल मदभरे स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि परत जेहि चितवत इक बार।। (रसतीन)

इस दोहें में 'चितवत' में पर्यायवक्रता है।

11.3.6 उपचार वक्रता :

जहाँ अमूर्त वस्तु का मूर्त वस्तु के वाचक शब्द द्वारा सादृश्य (लक्ष्णामूलक) उपचार से कथन किया जाए, वहाँ उपचार वक्रता होती है। ['यत्रामूर्तस्य वस्तुनो मूर्त द्रव्योभिधायिना शब्देनाभिधानमुपचरात्'' (कुंतक)]

इस रिमझिम में नाच उठीं सरिता की लहरें
इस झिमिरपात में किसलय कंठों से गीत फूटा
डाल-डालियाँ झूम-झूमकर रिमझिम का स्वागत करतीं
झूम उठीं वृंतों पर कलियाँ झरनों ने गाए गीत मधुर।'' (माधवी परिमल)

जड़ पर (सरिता की लहरें, डाल-डालियाँ, कलियाँ, भरने) चेतन के आरोप से उपचार वक्रता है।

11.3.7 विशेषण वक्रता :

यहाँ विशिष्ट विशेषण के कारण वक्रता की आधान होता है।

बोलती मधुमय आखें तेरी
गाते अधर तुम्हारे अरुणिम;
कुंद कली दाँतों की पंक्ति

पावसगंधी अलकों की रानी। ('माधवी परिमल') 'पावसगंधी' विशेषण कविता में अपूर्व चमत्कार (वक्रता, बांकपन) डाल देता है।

11.3.8 संवृत्ति वक्रता :

जहाँ प्रकरण के अनुरूप किसी अपकर्ष अथवा उत्कर्ष (विशेष) के कारण पदार्थ का स्वरूप व्यक्त रूप से साक्षात नहीं कहा जा सकता और (अर्थ) छिपाने की सामर्थ्य से युक्त किसी शब्द से (अस्पष्ट रूप) कहा जाता है, वहाँ संस्वृत्तिवक्रता होती है।''

कुछ होती है भीतर हलचल
तेरी चितवन ही कुछ ऐसी है;
उर में सपनों की लहरें मचलें

देखी आँखें मादक ही कुछ ऐसी हैं। '(माधव परिमल) ऊपर की पंक्तियों में 'कुछ' शब्द (सर्वनाम) के द्वारा कथनीय की संवृत्ति की गई है।

11.3.9 वृत्ति-वैचित्र्य वक्रता :

वृत्ति (संबंध) के वैचित्र्य से जहाँ वक्रता हो, उसे 'वृत्ति-वैचित्र्य वक्रता' कहते हैं। जहाँ प्राप्त (अनुभूत अर्थात अनुभव-सिद्ध) संबंधों में से कवि किसी विशेष (संबंध) का ही ग्रहण करते हैं, वहाँ 'वृत्ति-वैचित्र्य वक्रता' होती है।

डालों पर पंखुरियों के पर से
यह कुसुम-विहग है डोल रहा;
बदरा छाए, गाए गीत पवन सन-सन।

ऊपर तना रंगीन धुनष, कानों में कुछ बोल रहा। ('माधवी परिमल')

यहाँ 'कुसुम-विहग' में वृत्ति-वैचित्र्य वक्रता' है, क्योंकि 'कुसुम' और 'विहग' एवं पंखुरी तथा पर के चमत्कारपूर्ण संबंधों से कथन में विशिष्ट चमक (वक्रता) का आधान हुआ है।

11.3.10 लिंग-वैचित्र्य वक्रता :

जहाँ वैचित्र्य संपादन के लिए भिन्न लिंग के शब्दों का भी समानाधिकरण रूप से प्रयोग होता है, वहाँ 'लिंग-वैचित्र्य वक्रता' होती है।

'मधुप' शब्द पुलिंग है, पर छायावादी कवि 'पंत' ने 'मधुप' के साथ कुमारी शब्द का प्रयोग कर मधुप को स्त्रीलिंग रूप में प्रयुक्त किया है, जिससे काव्य में वक्रता आ गई है।

सिखा दो ना हे मधुपकुमारि
मुझे भी अपने मीठे गान

11.3.11 क्रिया-वैचित्र्य वक्रता :

यह वक्रता क्रिया की विचित्रता के कारण उत्पन्न होती है।

(1) तितली के पर-सी पलकों में
कौंध गए सपनों के जादू;
ओठों पर नाच उठे अंतर के स्वर
नयनों में तिर आए ययामल स्वप्नसजल। ('माधवी परिमल')

कौंध (ना), नाच (ना) तिर (ना) जैसी विचित्र क्रियाओं के चलते कविता में अपूर्व माधुर्य की सृष्टि हुई है।

11.4. पद परार्ध-वक्रता

पद के परार्ध, अर्थात-प्रत्यय से उत्पन्न वक्रता को पदपरार्ध-वक्रता कहते हैं। कुंतक ने इसके छह भेद किए हैं :

(i) कालवक्रता (ii) कारक वक्रता (iii) संख्या (वचन) वक्रता (iv) पुरुष वक्रता (v) प्रत्यय वक्रता। उपसर्ग वक्रता एवं निपात वक्रता नाम से कुंतक ने दो और पदपरार्ध वक्रता का उल्लेख किया है।

11.4.3.1 काल वक्रता :

हाय! मिलेगा मिट्टी में वह वर्ण-सुवर्ण खरा।
सूख जाएगा मेरा उपवन जो है आज हरा।। (मैथिली शरण गुप्त, यशोधरा)

'मिलेगा' और 'सूख जाएगा' जैसे भविष्यत् काल के प्रयोग ने गुप्तजी ने यशोधरा के बुढ़ापे की ओर संकेत किया है।

11.4.3.2 कारक वक्रता :

मुझ से आकर कहा मधुप ने
"पुष्पे, बंदी आज बना लो
रहूँ तुम्हारे संग रंग जाए तन-मन
शुचिते, अपना मुझे बना लो।" (माधवी परिमल)

यहाँ मुझसे, पुष्पे और शुचिते में कारक-वक्रता है। 'मुझसे' में कर्मकारक तथा 'पुष्पे' एवं 'शुचिते' में संबोधन कारकीय वक्रता है। 'मुझसे' के स्थान पर 'मुझे' का प्रयोग हो सकता था, पर उसमें आत्मीयता का भाव नहीं रहता। 'पुष्पे' और 'शुचिते' संबोधन कारकीय प्रयोग से भ्रमर का पुष्प के प्रति आत्मीय एवं पवित्र आकर्षण अभिव्यक्त हुआ है।

11.4.3.3 संख्या (वचन वक्रता) :

'हमीं भेज देती हैं रण में क्षात्र धर्म के नाते।' (मैथिली शरण गुप्त, यशोधरा)

'मैं' के स्थान पर 'हमीं' का प्रयोग समस्त क्षत्रियाणों का सूचक है। इससे यही भाव अभिव्यक्त हो रहा है कि मैं (यशोधरा) भी वीर क्षत्रियायियों की तरह कर्तव्यपालन के प्रति जागरू हूँ।

11.4.3.4 पुरुष वक्रता :

"करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुस्काए।" (मैथिलीशरण गुप्त)

'मेरा' के स्थान पर [उत्तम पुरुष, संबंध कारक के स्थान पर] 'इस जन का' [अन्य पुरुष, संबंध कारक का] प्रयोग हुआ है। इसके चलते अभिव्यक्ति और सुंदर हो गई है। 'इस जन का' प्रयोग से विनम्रता, गतअहंकारत्व, समर्पण तथा महत्ता के प्रति साधुता का आकर्षण अभिव्यक्त हुआ है।

11.4.3.5 प्रत्ययवक्रता :

किसी प्रत्यय के सार्थक प्रयोग से अर्थचमत्कृति को प्रत्ययवक्रता कहते हैं।

'पिय सो कहहुँ संदेसड़ा हे भौंरा, हे काग।' (जायसी, नागमती वियोग-खंड)

यहाँ 'संदेश' में 'डा' प्रत्यय लगने से अर्थ में विस्तार और गांभीर्य आ गया है। 'संदेसड़ा' से समर्पण, आस्था, आत्मीयता और लघुता का (नागमंती का रत्नसेन के प्रति) भाव व्यंजित होता है।

11.4.3.6 उपसर्ग वक्रता :

एक बार पीकर प्रमत्त हुआ जहाँ
सुध फिर अपनी पराई उसको कहाँ? (मैथिलीशरण गुप्त, 'नहुष')

यहाँ 'मत्त' में 'प्र' उपसर्ग लगने से अत्यधिक मतवालेपन का बोध हो रहा है।

11.4.3.6 निपात वक्रता :

निपात (अव्यय भी ही, मत, मात्र आदि) के उपयुक्त प्रयोग से आई वक्रता (अर्थ-सौंदर्य) को 'निपातवक्रता' कहते हैं।

माँ बेटे का दर्द न जाने,
भला यह कैसे होगा?
बेटे को जितनी पीड़ा है
उससे ज्यादा माँ ने ही है भोगा। (माधवी परिमल)

उपर्युक्त पंक्तियों में भला, कैसे ही आदि निपातों के कारण कविता में वक्रता का समावेश हुआ है।

11.4.4 वाक्य वक्रता :

यह वक्रता वाक्य के प्रयोग-कौशल के कारण आती है। इसे वस्तुवक्रता या वाच्यवक्रता के नाम से भी अभिहित किया जाता है। वस्तुवक्रता का अर्थ है वर्ण्यविषय। इसके दो भेद हैं : (i) सहजा वस्तु वक्रता, तथा (ii) अर्थालंकारों के प्रयोग-कौशल से उत्पन्न वक्रता।

11.4.4.1 सहजा वस्तु-वक्रता :

कवि जब अपनी सहज प्रतिभा द्वारा प्रकृत वस्तुओं का सजीव-वर्णन करता है तब वहाँ 'सहज वस्तु वक्रता' होती है। कुंतक के अनुसार सहज-स्वाभाविक वर्णन में कवि-प्रतिभा के कारण आई सौंदर्यपूर्ण जीवंतता को ही 'सहजावस्तु वक्रता' का नाम दिया जा सकता है 'सहजा वस्तु वक्रता' में कवि आयासारहित होकर भावों का सहज रूप से चित्रण करता है। इसमें सहज चित्रात्मकता अपेक्षित होती है। ऐसी वक्रता, प्राय: बिंब-विधायिनी होती है।

दिवस का अवसान समीप था
गगन का कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर अब राजती
कुमुदिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा।।

11.4.4.2 अर्थालंकारों के प्रयोग-कौशल से उत्पन्न वक्रता :

इसके अंतर्गत सारे अर्थालंकारों के उदाहरण आते हैं। रूपक एवं मानवीकरण :

वसुधा पर ओस बने बिखरे
हिमकण आँसू जो क्षोभ भरे–
उस बटोरती अरुण गात। (प्रसाद) (वस्तुवक्रता)

व्यंग्यरूप अर्थालंकार को भी कुंतक वाच्यवक्रता (वस्तुवक्रता) के अंतर्गत ही लेते हैं।

11.5 प्रकरण-वक्रता

प्रकरण वक्रता का तात्पर्य है कथा-प्रसंग वक्रता। कुंतक ने इसके आठ भेद माने हैं जो निम्नोक्त हैं :

(i) पात्र-प्रवृत्ति वक्रता,
(ii) उत्पाद्य लावण्य
(iii) प्रमुख तथा प्रासंगिक कथाओं में उपकार्योपकारक भाव
(iv) आवृत्ति-वक्रता
(v) प्रकरण-रस वक्रता
(vi) अप्रधान (पर, सुंदर) प्रसंग द्वारा प्रधान कथावस्तु की सिद्धि
(vii) गर्भांक
(viii) प्रसंगों की पारस्परिक अन्विति

11.5.1 पात्र-प्रकृति-वक्रता :

कवियों द्वारा पात्रों की भावपूर्ण स्थिति का ऐसा वर्णन जिससे उनके चरित्र की उत्कृष्टता झलकती हो– उसमें ही पात्र-प्रकृति वक्रता होती है।

आया तू फिर राम, कोख में मानों मेरी
लक्ष्मण, मेरी गोद रहे शिशु-शय्या तेरी।
जन्म-जन्म में यहीं कोख जननी में पाऊँ
माँ मैं लक्ष्मण इसी गोद में पलता जाऊँ।

(साकेत, सर्ग-12, मैथिलीशरण गुप्त)

इसमें भावपूर्ण संवाद के चलते राम, कौशल्या और लक्ष्मण के चरित्र का उत्कर्ष देखा जा सकता है।

11.5.2 उत्पाद्यलावण्य :

ऐतिहासिक कथावस्तु में कवि-कल्पना से जुड़े नवीन प्रसंग जो काव्य की महत्ता को बढ़ा दें। महाकवियों की रचनाओं में इनका सम्यक् आयोजन होता हैं। तुलसीदास की 'कवितावली' में गुप्तजी (मैथिली शरण गुप्त) के 'साकेत' में तथा 'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास' में इसे देखा जा सकता है। जायसी ने तो 'पद्मावत' में इतिहास और कल्पना का अद्‌भुत समन्वय किया है।

□ **उत्पाद्यलावण्य**–दो प्रकार का होता है : अविद्यमान की कल्पना तथा विद्यमान में संशोधन।

यदि, रामनरेश त्रिपाठी रचित 'पथिक' खण्डकाव्य 'अविद्यमान की कल्पना' का उदाहरण है तो मायुराज प्रणीत 'उदात्तराघव' (अप्राप्य संस्कृत नाटक) में मारीचवध के लिए राम के बदले लक्ष्मण का जाना 'विद्यमान के संशोधन' का उदाहरण है।

11.5.3. प्रमुख तथा प्रासंगिक कथाओं में उपकार्योपकारक भाव :

प्रमुख तथा (आधिकारिक तथा) प्रासंगिक कथाओं में उपकार्योपकारक भाव होने से प्रकरण में वक्रता आती है। प्रासंगिक कथाएँ (अवांतर कथाएँ) एक-दूसरे का (परस्पर) उपकार करती हुई अंततः प्रधान (मुख्य, आधिकारिक) कथा का उपकार करती है। प्रासंगिक कथाएँ यदि प्रधान कथा को गति और अर्थ नहीं देतीं, तो वे सर्वथा अप्रासंगिक हो जाती हैं। प्रासंगिक कथाओं का महत्त्व इसी अर्थ में है कि वे प्रमुख कथा को गति, अर्थ एवं उद्देश्योन्मुख करती हैं। प्रबंध काव्यों में मुख्य एवं प्रासंगिक कथाओं में पारस्परिक उपकार्योपकारक भाव का होना प्रबंध की सफलता के लिए अनिवार्य है, अन्यथा उपकार्योपकार भाव के अभाव में कथावस्तु विशृंखल हो जाती है और प्रबंध का सारा ढाँचा चरमरा जाता है। यह प्रतिपादन अरस्तू की कार्यन्विति (Unity of Action) के बहुत समीप है।

11.5.4. आवृत्ति वक्रता :

कुंतक की दृष्टि में प्रबंध की किसी कथा का कोई एक प्रकरण अपनी मनोहारिता, नवीनता और मोहक वर्णनात्मकता के कारण संपूर्ण प्रबंधकाव्य को आत्यंतिक महत्ता प्रदान करता है। यहीं आवृत्ति वक्रता है। 'रामचरितमानस' में सीताहरण के पश्चात् राम का विलाप संपूर्ण प्रबंध काव्य को अपूर्व मनोहारी अर्थवत्ता प्रदान करता है। इसी तरह जायसी के पद्मावत का 'नागमती वियोग खंड', 'कामायनी' का लज्जा एवं श्रद्धा वर्णन एवं 'साकेत' का उर्मिला-विरह-वर्णन आदि है।

11.5.5. प्रकरण-रस-वक्रता :

'प्रकरण-रस-वक्रता' का अर्थ है (कुंतक के अनुसार) प्रबंध के रोचक प्रसंगों का विशेष विस्तार से वर्णन। 'साकेत' का चित्रकूट वर्णन 'प्रकरण-रस-वक्रता' का उदाहरण है। लेखक की दृष्टि में विस्तार में वस्तुगत औचित्य होना चाहिए। ऐसा नहीं हो कि कोई प्रकरण विशेष अपने विस्तार के कारण कथ्य को धूमिल कर दे। देखना यह होगा कि कोई रुचिकर प्रकरण अपने अनपेक्षित विस्तार के कारण प्रबंध के प्रतिपाद्य को ही बाधित न कर दे।)

11.5.6. गौण किंतु :

सुंदर प्रसंग की उद्भावना द्वारा प्रधान कथावस्तु की सिद्धि : प्रबंधकाव्य में कवि द्वारा गौण प्रसंगों की ऐसी उद्भावना की जानी चाहिए जो अर्थवान, सुंदर और अधिकारिक कथावस्तु के प्रेरक हों। मैथिलीशरण गुप्त के 'शकुंतला' काव्य में वणिक के डूबकर मर जाने का एक गौण प्रसंग आता है। इस प्रसंग से दुष्यंत को प्रेरणा मिलती है; उसे अपने वंश की रक्षा का ध्यान हो आता है।

11.5.7. गर्भांक :

नाटक के अंक के भीतर एक लघु अंक अथवा विशेष दृश्य की व्यवस्था जो नाटक के प्रतिपाद्य को पारदर्शी बनाए। राजशेखर ने 'बालरामायण' में 'सीता-स्वयंवर' नामक गर्भांक प्रस्तुत किया है। (महाकाव्य, खंडकाव्य, एकार्थ काव्य एवं नाटक) को प्रबंध-वक्रता कहते हैं। कुंतक ने इसके छह भेद किए हैं–

(i) मूल रस में परिवर्त्तन
(ii) प्रकरण विशेष पर कथा की समाप्ति
(iii) कथा के बीच ही किसी अन्य कार्य द्वारा प्रधान कार्य की सिद्धि
(iv) नायक द्वारा अनेक फलों की प्राप्ति

(v) प्रधान कथा के सूचक नामों से प्राप्त वक्रता

(vi) एक ही विषय से जुड़ा विलक्षण प्रबोधत्व

11.5.7.1. मूल रस में परिवर्तन :

आधार कथा को मार्मिक एवं हृदयग्राही बनाने के लिए उसके मूल रस के स्थान पर अच्छे किसी दूसरे रस को आधार बनाकर लिखी गई कृति में एक प्रकार की वक्रता आ जाती है। जैसे 'रामायण' शांतरस प्रधान है। इसी को आधार बनाकर भवभूति ने 'उतररामचरितम्' की रचना की जिसमें करुण या विप्रलंभ शृंगार रस की प्रधानता है। इसी तरह मैथिलीशरण गुप्त ने 'रामायण' पर आधृत 'साकेत' को शृंगार रस प्रधान काव्य के रूप में प्रस्तुत किया जिसमें उर्मिला के वियोग को प्रधानरूप से चित्रित किया गया है।

11.5.7.2. प्रकरण विशेष पर कथा की समाप्ति :

प्रबंधकार (कवि) चरित्र के (नायक के) चरम उत्कर्ष को दिखाने के लिए प्रबंध की कथा को किसी विशेष प्रकरण पर समाप्त कर देता है। इससे रचना में एक प्रकार की रुचिकर वक्रता का विधान होता है। आधुनिक कथा-साहित्य में प्रकरण विशेष कर कथा को समाप्त करने की प्रवृत्ति काफी प्रचलित है। इस रचनात्मक प्रक्रिया से रचना में एक प्रकार का संकेत उभरता है जो रचना के प्रतिपाद्य को स्पष्टता प्रदान करता है। प्रसाद 'चंद्रगुप्त' नाटक को वहीं समाप्त कर देते हैं जहाँ चंद्रगुप्त यवनों को निष्काषित कर देता है। रचनाकार में इसका पूर्व विवेक होना चाहिए कि वह अपनी रचना को किस प्रकरण पर समाप्त करें ताकि उसकी उस रचना में अभिव्यक्ति की एक अपूर्ण दीप्ति पैदा हो गए। यह 'दीप्ति' ही कुंतक की दृष्टि में प्रकरण विशेष पर कथा के समाप्त होने से उत्पन्न वक्रता है।

11.5.7.3. कथा के बीच ही किसी अन्य कार्य द्वारा कार्य की सिद्धि :

कथा के बीच ही किसी अन्य कार्य द्वारा कार्यसिद्ध होने से (रचनाकार को उसके उद्देश्य की प्राप्ति हो जाने पर) रचना को अचानक समाप्त कर दिया जाता है। इससे रचना में एक प्रकार का चमत्कार भर जाता है। पाठक या दर्शक की हिचकोले खाती जिज्ञासा के प्रवाह की रचनाकार एक झटके के साथ स्थगित कर देता है। इससे रचना में वक्रता आ जाती है। 'नहुष' में नहुष के पतन पर कथा समाप्त कर ही गई है। कथा-सूत्र का अनायास एवं आकस्मिक रूप से समाप्त होने से पूरी रचना एक अर्थपूर्ण आभा से भर जाती है। आधुनिक कथाकृतियों में ऐसी प्रवृत्ति खूब प्रचलित है। इस संदर्भ में यह ध्यान देना अपेक्षित है कि कथा-सूत्र के अनाचक समाप्त होने से रचना की 'पूर्णता' खण्डित न हो। अतः, रचनाकार में इस प्रविधि को अपनाने के पूर्व यह विवेक अवश्य होना चाहिए कि वह कथासूत्र को कहाँ विराम दे कि उसकी रचना अपने कथ्य को पूर्णता में स्पष्टता के साथ प्रस्तुत कर सके।

11.5.7.4. नायक द्वारा अनेक फलों की प्राप्ति :

किसी विशेष फल की प्राप्ति के लिए चेष्टारत होने पर अन्य फलों की प्राप्ति अपने-आप हो जाना। उदाहरणस्वरूप, 'नागानंद' नाटक का नायक जीमूतवाहन मुख्य रूप से अपने पिता की सेवा के लिए वन में जाता है और श्रद्धापूर्वक उनकी सेवा करता है। इसी क्रम में गंधर्वकन्या, मलयवती से उसको प्रेम हो जाता है और दोनों प्रणयसूत्र में बंध जाते है। वह उस वन में शंखचूड़ नामक नाग की रक्षा करने के लिए अपने प्राण उत्सर्ग करता है और नागवंश को नष्ट होने से बचा लेता है। इस तरह जीमूतवाद पितृभक्त होने के साथ-साथ एक सफल प्रेमी और लोककल्याणकारी बन जाता है।